भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(जन्मशताब्दी-संस्करण)

लेखक

श्री ब्रजरत्नदास

१९५०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

मूल्य २)

प्रथम संस्करण : ५०७—१६३५
द्वितीय संस्करण : १०००—१६४८
जन्मशताब्दी संस्करण : २०००—१६५०

वक्तव्य

आज से १५ वर्ष पहले सन् १९३५ में हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर एक विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित किया गया था। प्रस्तुत पुस्तक उसी ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण है। इसके लेखक श्री ब्रजरत्नदास हिन्दी के पुराने साहित्यसेवी और भारतेन्दु जी के दौहित्र हैं।

इस वर्ष ९ सितम्बर सन् १९५० को भारतेन्दु के जन्म को पूरे १०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। उनकी जन्म शताब्दी के उपलक्ष में भारतेन्दु के जीवन और साहित्य से अधिक से अधिक पाठकों को अवगत कराने के उद्देश से यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। हम आशा करते हैं कि साहित्य जगत में इसका समुचित स्वागत होगा।

मन्त्री

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
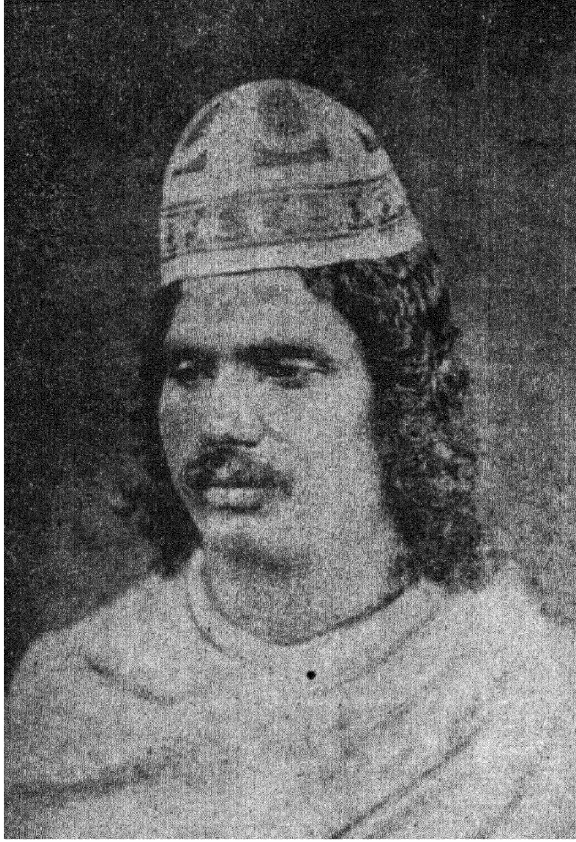
रतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म : ९ सितंबर १८५० ई०
मृत्यु : ६ जनवरी १८८५ ई०

पूर्वजगण

भारतेंदु जी ने स्वरचित उत्तरार्द्ध भक्तमाल में अपने वंश का परिचय इस प्रकार दिया है—

वैश्य अग्र-कुल में प्रकट बालकृष्ण कुलपाल।
ता सुत गिरिधर-चरन-रत वर गिरिधारीलाल॥
अमींचंद तिनके तनय, फतेचंद ता नंद।
हरषचंद जिनके भए निज कुल-सागर-चंद॥
श्रीगिरिधर गुरु सेइ के घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब हरि-पद-भक्ति दृढ़ाइ॥
तिनके सुत गोपाल ससि प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन करमगति मेटि जिन कीनी भक्ति प्रकास॥
मेटि देव देवी सकल छोड़ि कठिन कुल रीति।
थाप्यो गृह में प्रेम जिन प्रगटि कृष्ण-पद प्रीति॥
पारवती की कोख सों तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो भक्त-दास हरिचंद॥

इस उद्धरण से इतना ज्ञात हो जाता है कि इनके पूर्वजों में राय बालकृष्ण तक का ही ठीक-ठीक पता चलता है। मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ का द्वितीय पुत्र शुजाअ बंगाल का प्रांताध्यक्ष नियत होकर जब राजमहल आया तभी यह परिवार भी यहाँ चला आया। इसके अनंतर बंगाल के नवाबों ने जब मुर्शिदाबाद को अपनी राजधानी बनाया तब यह परिवार भी यहीं आ बसा। राय बालकृष्ण के पौत्र तथा गिरिधारीलाल के पुत्र अमीचंद

के समय बंगाल में अंग्रेजों का प्रभुत्व फैल चला था और इनके साथ व्यापार करने में अधिक लाभ की संभावना देखकर इन्होंने कलकत्ते में भी कोठी खोल दी। यह अंग्रेजों की बराबर सहायता करते रहे पर अंत में उनके व्यवहार से इनके हृदय को ऐसी चोट लगी कि यह पागल होकर सन् १७५८ ई० में मर गए।

अमीचंद के पुत्र फतेहचंद इस घटना से उदास होकर सन् १७५९ ई० में काशी चले आए और यहीं बस गए। इनके एक-मात्र पुत्र बा० हर्षचंद्र थे, जो अपने गुणों के कारण इतने प्रसिद्ध हुए कि अब तक इन्हीं के नाम से यह कोठी प्रसिद्ध है। यह अग्रवाल जाति के चौधरी भी मान लिए गए थे। अवस्था अधिक हो जाने पर भी पुत्र न होने से यह दुखित रहा करते थे। एक दिन गोस्वामी श्रीगिरिधर जी ने इसका कारण पूछा और आशीर्वाद दिया कि इसी वर्ष पुत्र होगा। दैवयोग से उसी वर्ष पौष कृ० १४ सं० १८९० वि० गोपालचंद का जन्म हुआ और इन्होंने गुरु पर भक्ति रखने के कारण अपना उपनाम गिरिधरदास रखा। इनके पिता इन्हें ग्यारह वर्ष की अवस्था का छोड़कर मर गए। इन्होंने गृह पर ही शिक्षा प्राप्त की पर अत्यंत मेधावी होने से इन्होंने शीघ्र ही हिंदी तथा संस्कृत में बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली। यह प्रतिभाशाली तथा जन्मसिद्ध कवि थे और ऐसे सच्चरित्र थे कि लोग इन पर भक्ति रखते थे। जनता तथा भारत सरकार दोनों के विश्वास पात्र थे। तत्कालीन कमिश्नर मि० गबिन्स इन्हें 'परकटा फ़रिश्ता' कहते थे।

इनकी विद्याभिरुचि ऐसी थी कि बहुत धन-व्यय कर तथा अलभ्य ग्रंथों का संग्रह कर सरस्वतीभवन स्थापित किया था। इन्होंने तेरह वर्ष की अवस्था ही में वाल्मीकीय रामायण का छंदोबद्ध अनुवाद समाप्त कर दिया था। यह ऐसे आशु कवि

थे कि केवल छब्बीस की अवस्था पाने पर भी इसी बीच चालीस ग्रंथों की रचना कर डाली और सभी काव्यग्रंथ थे। इन्हें कविता तथा भगवत्सेवा का व्यसन सा था। प्रकृति में रईसी भरी हुई थी। गंभीरता के साथ विनोद-प्रियता भी थी। फूलों का बड़ा शौक़ था। घर में भी एक छोटा बाग लगाया था और इनके बड़े बाग के फूलों पर प्रदर्शिनी में पुरस्कार तथा सनद मिली थी। यह परम वैष्णव भक्त थे और श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति थी। इनके यहाँ साधु-महात्माओं, कवियों तथा विद्वानों का बराबर सत्संग रहा करता था। यह उदार भी थे और सुकवियों की सहायता भी करते रहते थे। इनकी मृत्यु वैशाख शु० ७ सं० १९१७ को हुई थी।

यद्यपि भारतेंदु जी के एक दोहे के अनुसार इन्होंने चालीस ग्रंथ लिखे थे पर उनमें से बाईस तेईस ग्रंथ प्राप्त हैं। 'जरासंध-वध' महाकाव्य अपूर्ण है, जिसके साढ़े दस सर्ग प्राप्त हैं। यह वीर-रस से भरा है और यमक आदि अलंकारों की अच्छी छटा है। इस चरित के लेखक ने ग्यारहवाँ सर्ग पूरा कर इसे प्रकाशित कराया है। 'भारतीभूषण' अलंकार ग्रंथ है, जिसमें एक-एक दोहे में लक्षण तथा एक-एक में उदाहरण दिए गए हैं। 'रस-रत्नाकर' अपूर्ण है और इसे पूरा करने के विचार से भारतेंदु जी इसे श्रीहरिश्चंद्र चंद्रिका में इसे क्रमशः निकालते रहे पर तब भी यह अपूर्ण रह गया। इन्होंने दशावतार कथामृत वृहत् ग्रंथ लिखा है, जिसमें मत्स्य, कच्छप, बाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि इन दस अवतारों की कथा है। बलराम कथामृत में श्रीकृष्ण ही का वर्णन है पर स्यात् बड़े भाई होने से ऐसा नामकरण किया है। यह सबसे विशद है और इसकी पद संख्या ४७०१ है। 'रामकथामृत' में १००१ पद हैं, वामन में ८०१ तथा कच्छप में ४२५ हैं। अन्य

सब छोटे-छोटे हैं। 'गर्गसंहिता' दोहे चौपाइओं में है, जिसकी छपी प्रति में ४७८ पृष्ठ हैं। 'एकादशी माहात्म्य' में व्रत का विधान तथा सभी एकादशियों की कथा कही गई है। इनके सिवा 'भाषा व्याकरण,' 'प्रेम-तरंग', कीर्तन के पद आदि कई रचनाएँ हैं। 'नहुष' नाटक अपूर्ण है और जितना इन्होंने लिखा था वह भी अप्राप्त है। संस्कृत में कृष्ण भगवान के सहस्रनामों को 'ककारादि सहस्रनाम' में श्लोकबद्ध किया है। इसमें दो सौ दस श्लोक हैं। इसके सिवा इन्होंने अन्य दस स्तोत्र लिखे हैं जो प्रायः अप्राप्त हैं।

गोपालचंद्र जी के चार संतानें थीं, दो पुत्रियाँ तथा दो पुत्र। पुत्रों के नाम भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र तथा श्री गोकुलचंद्र थे।

जन्म तथा बाल्यकाल

भाद्रपद शु० ५ ऋषि पंचमी सं० १९०७ (९ सितम्बर सन १८५० ई०) को सोमवार के दिन प्रातःकाल भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ने पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर हिंदी साहित्य के गगनांगण को द्वितीया के चंद्र के समान शोभायमान किया था। बा० गोपालचंद्र को पुत्र होकर जाते रहते थे इसलिए भारतेन्दु जी की माता अपने मायके शिवाले चली गई थीं और वहीं ननिहाल में इनका जन्म हुआ था। इनकी माता इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था का और पिता दस वर्ष की अवस्था का छोड़कर परलोक सिधारे थे। इसी बीच इतनी छोटी अवस्था ही में इन्होंने अपने पिता से महाकवि को अपनी चंचल प्रतिभा से विस्मित कर दिया था। एक बार 'बलराम कथामृत' की रचना के अवसर पर यह भी पिता के पास जा बैठे और पिता से स्वयं कविता बनाने की बड़े आग्रह से आज्ञा माँगने लगे। पिता ने बड़े प्रेम से आज्ञा देते हुए कहा कि 'तुम्हें अवश्य ऐसा

करना चाहिए।' कहते हैं कि बा० हरिश्चन्द्र जी ने उसी समय निम्नलिखित दोहा बनाया।

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हतन लगे भगवान॥

बा० गोपालचन्द्र जी ने बड़े प्रेम से पुत्र के उत्साह को बढ़ाने के लिये इस दोहे को अपने ग्रंथ में स्थान दिया और कहा कि 'तू मेरा नाम बढ़ायेगा।' इसी प्रकार एक दिन बा० गोपालचन्द्र जी के रचित 'कच्छप कथामृत' के एक सोरठे की व्याख्या उन्हीं की सभा में हो रही थी। भारतेन्दु जी उसी समय वहीं आ बैठे और सब की बातों को सुनते हुए अंत में एकाएक बोल उठे कि 'बाबू जी हम अर्थ बतलाते हैं। आप वा (उस) भगवान का जस वर्णन करना चाहते हैं, जिसको आपने कछुक छुवा है अर्थात् जान लिया है!' इस नई उक्ति को सुनकर इनके पिता तथा सभासद्-गण चमत्कृत हो उठे और इनकी बहुत प्रशंसा करने लगे। सोरठे की प्रथम पक्ति यों है—

करन चहत जस चारु कछु कछुवा भगवान को।

इसी प्रकार एक बार जब इनके पिता तर्पण कर रहे थे तब इन्होंने प्रश्न किया था कि 'बाबू जी, पानी में पानी डालने से क्या लाभ?' धार्मिक-प्रवर बा० गोपालचन्द्र ने सिर ठोका और कहा कि 'जान पड़ता है तू कुल बोरेगा'। बचपन की साधारण अनुसंधान-कारिणी बुद्धि का यह एक साधारण प्रश्न था, जो इनके जीवन में बराबर विकसित होती गई थी। यह धार्मिक तथा सामाजिक सभी प्रश्नों के तथ्य-निर्णय में दत्तचित रहते थे।

भारतेन्दु जी का मुंडन-संस्कार अल्पावस्था ही में हुआ था और जब यह तीन वर्ष के थे तभी इनको कंठी का मंत्र दिया था। जब इनकी अवस्था नव वर्ष की थी तभी सुप्रसिद्ध

विद्वान् पं० घनश्याम जी गौड़ ने इनका यज्ञोपवीत संस्कार कराया और वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज ने इन्हें गायत्री मंत्र का उपदेश दिया।

शिक्षा इनकी बाल्यावस्था ही से आरंभ हो गई थी और पं० ईश्वरीदत्त ही शुरू में इन्हें पढ़ाते थे। मौलवी ताज अली से कुछ उर्दू पढ़ी थी और अंग्रेजी की आरंभिक शिक्षा इन्हें पं० नंदकिशोर जी से मिली थी। कुछ दिन इन्होंने ठठेरी बाजार वाले महाजनी स्कूल में तथा कुछ दिन राजा शिवप्रसाद जी से शिक्षा प्राप्त की थी। इसी नाते यह उनको गुरुवर लिखते थे। पिता की मृत्यु पर यह क्वींस कालेज में भर्ती किए गये और समय पर वहाँ जाने भी लगे। इनकी प्रकृति स्वतंत्रता-प्रिय थी। पिता की मृत्यु हो जाने से यह और भी स्वच्छंद हो गये थे। इस कारण इनकी शिक्षा अधूरी रह गई। पढ़ने में कभी मन नहीं लगाया पर प्रतिभा विलक्षण थी इसलिये पाठ एक बार सुनकर ही याद कर लेते थे और जिन परीक्षाओं में इन्होंने योग दिया उनमें उत्तीर्ण भी हो गये। इस प्रकार दो-तीन वर्ष अंग्रेजी तथा संस्कृत का शिक्षाक्रम चलकर रुक गया। कालेज में पान खाना मना था, इसलिए तांबूल-प्रेमी भारतेन्दु जी रामकटोरा के तालाब में कुल्ला कर क्लास में जाते थे। उस छात्रावस्था में भी कविता का शौक़ था और उस समय की रचनाएँ प्रायः सभी शृङ्गार-रस की थीं। सं० १९२० में भारतेन्दु जी का विवाह हुआ। यह भारत की प्रायः बीस-पचीस भाषाएं जानते थे और उनको इन्होंने किस प्रकार सीखा था इसका एक नमूना यह है कि 'ग्यारह वर्ष की अवस्था में हम जगन्नाथ जी गए थे। मार्ग में वर्द्धमान में 'विधवा-विवाह' नाटक बंग भाषा में मोल लिया, सो अटकल ही से उसको पढ़ लिया।' यह स्वभाव ही से हठी, चंचल तथा क्रोधी थे। मुड़ेरों, वृक्षों तथा चलती गाड़ियों पर चढ़ने-कूदने

का ऐसा शौक़ था कि अपने प्राण की भी परवाह न करते।

इनके शिक्षा-क्रम का प्रधान बाधक इनकी जगदीश यात्रा हुई जो घर की स्त्रियों के विशेष आग्रह से करना आवश्यक हो गया था। जब इन लोगों का डेरा नगर के बाहर पड़ा था तब लोग इनसे मिलने आने लगे। उनमें एक महापुरुष भी आए थे जो अमीरों के पितृहीन पुत्रों तथा बिगड़े हुए रईसों के परम हितैषी थे। इन्होंने बा० हरिश्चन्द्र जी को विदा होते समय दो अशर्फियाँ दीं और इनके पूछने पर कहा कि 'आप लड़के हैं, इन भेदों को नहीं जानते, मैं आपका पुश्तैनी नमकख्वार हूँ, इसलिए इतना कहता हूँ। मेरा कहना मानिए और इसे पास रखिए। काम लगे तो खर्च कीजिएगा नहीं तो फेर दीजिएगा। मैं क्या आप से कुछ माँगता हूँ। आप जानते ही हैं कि आपके यहाँ बहूजी का हुक्म चलता है। जो आपका जी किसी चीज़ को चाहा और उन्होंने न दिया तो उस समय क्या कीजिएगा? होनहार प्रबल था, ये उसकी बातों में आ गए और गिन्नियाँ रख लीं। एक समवयस्क ब्राह्मण को इन्होंने अपना खजांची बना दिया।

ऋण लेने की आदत, लोगों का कथन है, कि इनमें इसी समय से पैदा हुई, पर भारतेन्दु जी ने स्वयं इस विषय पर एक याददाश्त में कुछ और ही लिखा है, जिसका सारांश यह है कि एक बार बुढ़वा मंगल के अवसर पर एक आदमी लाल चंद्र-जोति कलकत्ते से लाया था। यह भी घर की नाव पर मेला देखने गये थे। इन्होंने चार रुपये की बुकनी जला डाली। मुनीम ने उसके रुपये नहीं दिए और विमाता ने भी यह वृत्तांत सुनकर रुपये न देने की आज्ञा दे दी। इन्होंने एक दिन भोजन भी नहीं किया पर वहाँ किसे परवाह थी, माता-पिता चल ही दिए थे। अंत में उन्होंने लाचार होकर किसी से चार रुपये ऋण लेकर उसे चुकाया था।

वर्धमान पहुँचने पर ये किसी बात पर अपनी विमाता से रुष्ट हो गये और घर लौट जाने की धमकी दी। किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे लोग जानते थे कि इनके पास राह खर्च है कहाँ कि वे घर लौटेंगे? इधर उन्होंने अपने खजांची को साथ लिया और अशर्फी भुना कर स्टेशन जा पहुँचे। जब यह समाचार ज्ञात हुआ तब इनके छोटे भाई इन्हें लौटा लाने को भेजे गये। छोटे भाई को देखकर ये फिर लौट आए पर यात्रा में ये भुनी हुई अशर्फियाँ व्यय हो गईं और इन्हीं के सूद आदि में हैंडनोट अदल-बदल कराते उस पुराने हितैषी के हाथ में इनकी दस पंद्रह हज़ार की एक हवेली चली गई।

जगन्नाथ जी का दर्शन करते हुए वहाँ सिंहासन पर भोग लगाने के समय भैरव मूर्त्ति का बैठाना देखकर भारतेन्दु जी ने इसको अप्रामाणिक सिद्ध किया और अंत में वहाँ से भैरव-मूर्त्ति हटवा ही कर छोड़ा। इसी पर किसी ने 'तहकीकात पुरी' लिखा, तब आपने उसके उत्तर में 'तहकीकात पुरी की तहकीकात' लिख डाला।

पर्यटन

जगदीश-यात्रा से लौटने पर संवत् १९२३ में यह बुलंदशहर गए। इसके अनंतर यह फिर एक बार बुलंदशहर गए थे, क्योंकि वहीं से इनके भ्रातुष्पुत्र को लिखी गई इनकी एक चिट्ठी मिली है जो स्यात् भारतेन्दुजी की मृत्यु के कुछ ही पहले की है। सं० १९२८ वि० में यह फिर यात्रा करने निकले और इस बार—

> प्रथम गए चरणाद्रि कान्हपुर को पग धारे।
> बहुरि लखनऊ होइ सहारनपूर सिधारे॥
> तहँ मन्सूरी होइ जाइ हरिद्वार नहाए।
> फेर गए लाहौर सुपुनि अम्बरसर आए॥

दिल्ली दै ब्रज बसि आगरा देखत पहुँचे आय घर।
तैंतीस दिवस में यातरा यह कीन्हीं हरिचंद्र बर॥

इसके छः वर्ष बाद सं० १६३४ में यह पहिले पुष्कर-यात्रा करने अजमेर गये और वहाँ से लौटने पर उसी वर्ष हिंदी-वर्द्धिनी सभा द्वारा निमंत्रित होकर प्रयाग गए। हिंदी की उन्नति पर एक ही दिन में अट्टानबे दोहों का एक पद्य-बद्ध व्याख्यान तैयार कर उक्त सभा के अधिवेशन में पढ़ा था। इसमें ऐक्य, स्त्री-शिक्षा, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार आदि सभी पर कुछ न कुछ कहते हुए 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' स्पष्ट किया गया है। यह लेक्चर आज भी प्रत्येक देश तथा मातृभाषा-प्रेमी के लिये पठनीय है। इसके अनंतर सन् १८७६ ई० के दिसम्बर मास में यह 'इन सब बातों की मानो कसौटी सरीखे' मान्य होने के कारण प्रयाग पुनः निमंत्रित होकर गए थे। वहाँ की आर्य-नाट्य सभा ने लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर—प्रेममोहिनी' का अभिनय ६ दिसम्बर को सफलता-पूवक किया था तथा नाटककार महोदय भी दिल्ली से पधारे थे।

सं० १६३६ में भारतेन्दु जी ने सरयूपार की यात्रा की। अयोध्या से हरैया बाजार, बस्ती और मेहदावल होते हुए गोरखपुर गए तथा वहाँ से घर लौट आए। इसी साल यह जनकपुर गए। रेल-यात्रा के कष्ट तथा आराम का मनोहर वर्णन किया है। सीता-वल्लभ स्तोत्र तथा अन्य कुछ पद इसी अवसर पर बनाए थे। सं० १६३७ में यह महाराज काशीराज के साथ वैद्यनाथ जी की यात्रा को गये। इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका और मोहन-चन्द्रिका के खंड ७ में प्रकाशित हुआ है।

सं० १६३६ वि० में भारतेन्दु जी उदयपुर गए। पत्थर के रोड़े, पहाड़, चुङ्गी, चौकी तथा ठगी को उस समय के मेवाड़

का पंचरत्न बतलाया है। गणेश गाड़ीवान तथा बैलगाड़ी पर पद्यमय व्यंग्योक्ति की है।

सं० १९४१ वि० में (नवम्बर सन् १८८४ ई०) यह व्याख्यान देने के लिये बलिया निमंत्रित होकर गए थे। बलिया इन्स्टीट्यूट में ५ वीं नवम्बर को यह व्याख्यान बड़े समारोह से हुआ था। इसी उपलक्ष में 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'नीलदेवी' के अभिनय भी हुए थे। भारतेन्दु जी उसमें उपस्थित थे और सूत्रधार द्वारा इनका नामोल्लेख होने पर दर्शक-गण आकाशभेदी करतल-ध्वनि करने लगे। इस व्याख्यान का शीर्षक था—भारतवर्ष का कैसे सुधार होगा। आरंभ में देश की दुर्दशा वर्णन कर स्त्री-शिक्षा, देशी वस्तु तथा विधवा-विवाह के प्रचार का और बाल-विवाह आदि रोकने का उपदेश दिया है।

इन स्थानों के सिवा यह डुमराँव, पटना, कलकत्ता, प्रयाग, हरिहरक्षेत्र आदि स्थानों को भी प्रायः जाया करते थे।

आकृति और स्वभाव

रचनाओं पर रचयिता के शारीरिक तथा मानसिक विकारादि की छाया पूर्णरूपेण रहती है। एक ही दृश्य का स्वस्थ तथा अस्वस्थ पुरुष पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है। प्रकृति का भी यही हाल है। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव की प्रतिकृति उसके दिन-रात्रि के कृत्यों पर जब पड़ती रहती है तब उसकी साहित्यिक रचनाओं पर अवश्य ही पड़ेगी। यही कारण है कि मननशील पाठक-गण लेखकों की शारीरिक बनावट तथा उनके स्वभाव आदि से परिचित होना आवश्यक समझते हैं क्योंकि वे तब उसकी रचनाओं को पूरी तरह समझ सकते हैं।

भारतेन्दु जी कद के कुछ लंबे और शरीर से एकहरे थे, न अत्यंत कृश और न मोटे ही। आँखें कुछ छोटी और

धँसी हुई सी थीं तथा नाक बहुत सुडौल थी। कान कुछ बड़े थे, जिनपर घुँघराले बालों की लटें लटकती रहती थीं। ऊँचा ललाट इनके भाग्य का द्योतक था। इनका रङ्ग साँवलापन लिए हुए था। शरीर की कुल बनावट सुडौल थी। इनके इस शारीरिक सौंदर्यपूर्ण मूर्त्ति का इनसे मिलनेवालों के हृदय पर उतना ही असर होता था जितना इनके मानसिक सौंदर्य का। इनके समय के कई वृद्ध-जन कहते हैं कि उनको उस समय लोग 'कलियुग के कँधैया' कहा करते थे। पं० अंबिकादत्त व्यास 'बिहारी बिहार' में लिखते हैं कि 'दूर से लोग इनकी मधुर कविता सुन आकृष्ट होते थे और समीप आ मधुर श्यामसुंदर घुंघरारे बालवाली मधुर मूर्त्ति देखकर बलिहारी होते थे और वार्तालाप में इनके मधुर भाषण, नम्रता और शिष्ट व्यवहार से वशम्वद हो जाते थे।' भोजन में इनकी रुचि विशेषतः नमकीन वस्तु की ओर अधिक थी। मिष्ठान्न में भी सोंधी चीज़ ही इन्हें प्रिय थी। फल पर भी इनका विशेष प्रेम था, पान खाने का इन्हें व्यसन सा था। इनके पान में गुलाब जल या केवड़ा जल अवश्य पड़ता था और हर समय यह पान खाया ही करते थे। इनके मित्रगण कहते थे कि जिस समय यह बात-चीत करते थे उस समय यह ज्ञात होता था कि गुलाब या केवड़े का भभका खुला हुआ है अर्थात् उनके मुख से बहुत ज्यादा सुगंध निकला करती थी।

शील और दान

यह स्वभाव ही से अत्यंत कोमल हृदय के थे। किसी के कष्ट की कथा सुन कर ही उस पर इनकी सहानुभूति हो जाती थी चाहे वह वस्तुतः झूठी मक्कारी ही क्यों न हो। यह दुख-सुख दोनों ही में प्रसन्न रहते थे और कभी क्रोध करते ही न थे। क्रोध आता भी था तो उसे शांति से दबा लेते चाहे फिर वह

उस क्रोध के पात्र से भाषण भी न करें। यह स्वभावतः नम्र थे पर किसी के अभिमान दिखलाने पर वे उसे सहन नहीं कर सकते थे। वे स्वतः कभी किसी से अपनी अमीरी, दातव्यता, काव्य-शक्ति आदि गुणों का अभिमान नहीं दिखलाते थे। और सभी छोटे-बड़े से समान रूप से मिलते थे। कोई इनका कितना भी नुक़सान करे पर यह कुछ न कहते थे, वरन् अन्य लोगों को उसकी भर्त्सना करने पर यह टोक देते थे। एक सज्जन प्रायः इनकी कुछ न कुछ वस्तु अवसर पाते ही लेकर चल देते थे। पकड़े जाने पर उनकी दुर्गति होती थी और ड्योढ़ी भी बंद की जाती थी पर वह भारतेन्दु जी के साथ लगे हुए फिर चले आते।

पर-दुःख-कातर सज्जन ही परोपकार में रत रह सकता है। सन् १८७२ ई० में बंबई प्रांत के खानदेश के कई ग्रामों में इतनी वृष्टि हुई कि गाँव बह गए तथा सैकड़ों मनुष्य मर गए और सहस्रों मनुष्य गृह तथा सामान से रहित हो गए। भारतेन्दु जी ने यथाशक्ति स्वयं सहायता की तथा काशी में घूमकर सहायतार्थ धन एकत्र कर भेजा था। उसी वर्ष काशी में गंगाजी में ऐसी बाढ़ आई थी कि पक्के संगीन मकान धँसे जाते थे और नगर की कितनी सड़कों तथा गलियों में जल भर गया था। बिना नाव के कहीं जाना आना और प्राण की रक्षा करना कठिन हो रहा था और उसपर कठिनता से नावें मिलती थीं। इन्होंने काशीराज से प्रार्थना कर गृह-विहीन लोगों को नंदेसर की कोठी में स्थान दिलाया और गंगाजी में विनयपत्र डलवाया था।

एक बार जाड़े की रात्रि में कहीं यह बाहर घूमने जा रहे थे कि मार्ग में इन्हें एक दरिद्र सोता हुआ मिला, जो जाड़े के कारण ठिठुरा जा रहा था। इन्होंने उसी समय अपनी दुशाला उतार कर उसे ओढ़ा दिया और गृह लौट गए। एक बार एक

फ़क़ीर जाड़े ही में ओढ़ना माँगता घूम रहा था। ये घर के दीवानखाने में बैठे सुन रहे थे। उसके देने योग्य इनके पास कोई वस्त्र नहीं था। इन्होंने उसे देने के लिये कुछ कहा पर किसी ने नहीं दिया। तब इन्होंने अपना दुशाला, जिसे वे ओढ़े हुए थे, उतार कर ऊपर ही से फेंक दिया।

ठोकिया अल्ल के एक धनाढ्य महाराष्ट्र काशी आ बसे थे। काशिराज की नक़ल उतारने का इन्हें व्यसन-सा था और कभी-कभी उनसे भी अधिक ऐश्वर्य दिखलाते थे। परंतु इस धनाढ्य महाराष्ट्र की लक्ष्मी शीघ्र ही समाप्त हो गई और यह दरिद्र हो गए। महाराज की ओर से इन्हें रामनगर में न आने की आज्ञा थी। भारतेन्दु जी से इन ग़रीब सज्जन का दुःख न देखा गया और वे इन्हें लिवा कर एक दिन रामनगर गये। महाराज से जाकर इन्होंने अपनी कृति कह दी और इन पर दया दिखलाने की प्रार्थना की। काशिराज ने ठोकिया को पचीस रुपये की मासिक वृत्ति दी पर अपने सामने आने की आज्ञा नहीं दी। ठोकिया को मार्ग में, जब महाराज की सवारी निकली तब सलाम करने का अवसर दिया गया। महाराज ने इसके बाद भारतेन्दु जी से ठोकिया को रामनगर में फिर न लाने के लिये कह दिया था।

भारतेन्दु जी को गुप्त रूप से दान देना भी अधिक प्रिय था। लिफाफे में नोट रख कर या पुड़िए में रुपये बाँध कर दे देना इनका साधारण कार्य था। एक अवसर पर रास्ते में एक दरिद्र को देखकर इन्होंने गजरे में पाँच रुपये लपेट कर उसी के पास रख दिया। साथ के एक नौकर को कुछ संदेह हुआ, इससे वह लौट कर जब वहाँ आया तब उसे उसी प्रकार वह गजरा पड़ा मिला। एक दिन एक पंडित जी इनके दरबार में आकर बैठे पर लोगों के आने-जाने के कारण उन्हें मौक़ा नहीं मिला।

इसी बीच भारतेन्दु जी उठकर स्नान करने चले गए। वे बेचारे चुपचाप बैठे रहे। कुछ देर के अनंतर बाबू साहब एक छोटी सी पेटी लिए हुए आए और उन ब्राह्मण को बुलाकर उसे देते हुए प्रणाम कर बिदा किया। वह कुछ कहना चाहते थे पर उन्हें रोककर कहा कि इसे आप घर ले जाकर देख लीजिएगा और तब यदि कुछ कहना हो तो आकर कहिएगा। ब्राह्मण देवता अपनी पुत्री के विवाह के लिए सहायता माँगने आए थे और जब उन्होंने घर पहुँचकर पेटी खोला तब उसमें उन्हें कुछ साड़ियाँ और दो सौ रुपए मिले। इच्छा से अधिक मिल जाने से ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए।

भारतेन्दु जी जिस प्रकार लोगों को उत्साहित करके साहित्य-सेवा में लगाते रहे उसी प्रकार लोगों को स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिए व्यापारादि करने में उत्साहित करते थे। बाबू गदाधर सिंह ने शिक्षा समाप्त करने पर मिलती हुई सरकारी नौकरी छोड़ व्यापार करने की इच्छा से इनसे सहायता चाही। भारतेन्दु जी ने इस कार्य के लिए इन्हें एक सहस्र रुपया सहायता दी थी, जिससे इन्होंने एक प्रेस खोला था। फोटोग्राफी उसी समय आरम्भ हुई थी। काशी में पहिले भरतपुर के राव कृष्णदेव शरणसिंह, भारतेन्दु जी तथा राय बलभद्रदास जी ने फोटोग्राफी सीखा था। यह एक नई चीज़ थी और इस कला की आय से उस समय के साधारण गृहस्थ अपनी जीविका मजे में चला सकते थे। भारतेन्दु जी ने कई मनुष्यों को फोटोग्राफी का सामान खरीद-खरीद कर दे दिया था। जादू के खेल आदि के भी सामान इन्होंने कई सज्जनों को दिए, जिससे वे लोग बहुत दिनों तक अपना जीवन निर्वाह करते रहे।

इनकी आँखों में शील भी बहुत था। एक बार बत्तीस सहस्र रुपये इन्होंने अपने एक मुसाहिब के यहाँ थाती के रूप में

रख दिये। एक दिन वे रोते कलपते इनके यहाँ पहुँचे और कहा कि रात्रि में हमारे घर चोरी हो गई और आपके रुपये रखकर हम अपना भी सर्वस्व गँवा बैठे। यह कहकर वह पुक्का फाड़ कर रोने लगा। भारतेन्दु जी ने हँस कर कहा कि 'यही ग़नीमत समझो कि चोर तुम्हें न उठा ले गए। जाने दो, गया सो गया।' लोगों ने बहुत समझाया कि यह सब इसकी बदमाशी है आप इससे अपना रुपया वसूल कीजिए। पर इन्होंने अंत में यही कहा कि 'बेचारा ग़रीब आदमी है, इसी से कमा खायेगा।'

इन्होंने 'हरिश्चन्द्र एन्ड ब्रदर्स' के नाम से व्यापार भी चलाया था जिसका विज्ञापन चंद्रिका में बराबर निकलता था। इस कोठी की एक यही विशिष्ट विचित्रता थी कि यहाँ जो माल खरीदने आते थे वे उसे उधार ही ले जाते थे और कोठी से बाहर निकलने पर उसे भेंट में मिली हुई वस्तु समझते थे। अस्तु, इस शील संकोच में वह कोठी भी शीघ्र बंद हो गई। इसी शील संकोच में यह स्वतः भी अपनी वस्तु लोगों को भेंट कर देते थे। एक दिन यह मोती की एक माला पहिरे हुए बंबई के गोस्वामी श्री जीवन जी महाराज के यहाँ दर्शन करने गए। महाराज ने कहा कि 'बाबू कंठा तो बहुत ही सुन्दर है।' यह सुनना था कि आप ने चट उसे उतार कर भेंट कर दिया। इसी प्रकार एक दिन एक शाहजादे साहब इनसे मिलने आए। इनके चित्रों के एक एलबम का, जिसमें बादशाहों, विद्वानों आदि के चित्र संग्रहीत थे, आपने देख-देख कर प्रशंसा का पुल बाँध दिया। अंत में भारतेन्दु जी ने घबड़ा कर कह दिया कि जो यह इतना पसन्द है तो आपकी नज़र है। यही एक वस्तु थी जिसको दे देने पर इन्हें पश्चात्ताप हुआ था और वे पाँच सौ रुपये तक देकर उसे वापस लेना चाहते थे, पर वह नहीं मिला।

काशी के कंपनी बाग में जनसाधारण के बैठने के लिये

लोहे की बेंचें रखवाई थीं। मणिकर्णिका कुण्ड के चारों ओर लोहे का कठघरा अपने व्यय से इस कारण लगवाया था कि उसमें बहुधा यात्री गिर पड़ते थे। माधोराय के धरहरे के ऊपर गुमटी में छड़ नहीं लगे थे, जिससे कभी-कभी ऊपर चढ़ने वाले गिर कर अपने प्राण खो देते थे। इन्होंने दोनों धरहरे पर छड़ लगवा दिया था। इन कार्यों के लिये म्युनिस्पैलिटी ने इन्हें धन्यवाद दिए थे।

हिंदी भाषा की जो आज दशा है वह शताधिक हिन्दी प्रेमियों के साठ-सत्तर वर्ष के सतत प्रयत्न का फल है। भारतेन्दु जी के समय में जब कि उसका जीवन ही संशय में था तब पुस्तक तथा समाचारपत्रों के प्रकाशन से लाभ की क्या संभावना की जा सकती थी। हिन्दी भाषा के केवल उद्धार ही के लिए वे कटिबद्ध हुए थे। वे द्रव्य की हानि लाभ का विचार करने नहीं बैठे थे। हिन्दी भाषा में लोगों की रुचि पैदा करने के लिए वे पुस्तकों का मूल्य नाममात्र को रखते थे और अधिकतर उन्हें बिना मूल्य ही लोगों में बाँटा करते थे। २०० रु० के मूल्य की पुस्तकें तो केवल बलिया इंस्टिट्यूट ही को एक साथ एकबार भेजी थीं।

भारतेन्दु जी पुरस्कार दे देकर लोगों को पुस्तकें निर्माण करने में उत्साहित करते थे। इसके सिवा जन-साधारण के हितार्थ तथा सरकारी कामों में भी सहस्रों रुपये चंदा देते थे। भारतवर्ष के सभी प्रांत के स्कूलों से जब बालिकाएँ परीक्षोत्तीर्ण होती थीं तो वे उन्हें बहुमूल्य साड़ी इत्यादि पारितोषिक दिया करते थे। इनके स्कूल के पढ़े हुए छात्र दामोदरदास जब बी० ए० परीक्षा की प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे तो उन्हें १००) की सोने की घड़ी तथा ३००) रु० की सोने की चेन इन्होंने पारितोषिक में दिया था। काशी की आचार्य्य परीक्षा में उत्तीर्ण

बालकों को भी घड़ी दिया करते थे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास को भी साहित्याचार्य की परीक्षा पास होने पर इन्होंने एक घड़ी दी थी।

सत्यप्रियता

भारतेन्दु जी सत्यप्रिय थे। वे स्वयं जानते थे कि 'सत्यधर्म-पालन हँसी खेल नहीं है' और 'सत्य पथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं' पर इन्होंने यथाशक्ति इस व्रत को आजन्म निबाहा। भारतेन्दु जी ने एक महाजन से एक कटर नाव तथा कुछ नगद रुपये लेकर तीन सहस्र की हुंडी लिख दी थी। उसका इन पर सब से पहिले दावा हुआ। यह मुक़द्दमा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद साहब सदर आला की कचहरी में था। देशहितैषिता के स्वयं व्रती होने के कारण उन्होंने प्रसिद्ध देशहितैषी भारतेन्दु जी को इस कष्ट में देखकर इन्हें अपने पास बुलाकर बैठाया और पूछा कि 'आपने असल में इनसे कितने रुपये पाए।' भारतेन्दुजी ने उत्तर दिया कि 'पूरे रुपये पाये।' सैयद साहब ने पूछा कि 'जो कटर इन्होंने लगा दिया है वह कितने रुपये का है।' उत्तर दिया कि 'जितने का मैंने लेना स्वीकार किया था।' इस उत्तर पर सदर आला साहब ने टेबुल पर हाथ पटक कर कहा कि 'बाबू साहब आप भूलते हैं, जरा बाहर घूम आइए और समझ बूझ कर जवाब दीजिये।' बाहर आने पर सभी लोगों ने समझाया और इन्होंने भी सब का उपदेश ध्यानपूर्वक सुन लिया, पर कुछ उत्तर नहीं दिया। पुनः इजलास पर जाने पर तथा पूछने पर आपने पहिले ही सा उत्तर दिया और सैयद साहब के खेद प्रकाशित करने पर इन्होंने अपनी चित्तवृत्ति उनसे इस प्रकार प्रकट की कि 'मैं अपने धर्म और सत्य को साधारण धन के लिये नहीं बिगाड़ने का। मुझसे इस महाजन ने जबर्दस्ती हुंडी नहीं लिखवाई और

न मैं बच्चा ही था कि समझता न था। जब मैंने अपनी गरज से समझ बूझकर उसका मूल्य तथा नजराना आदि स्वीकार कर लिया तो क्या मैं अब देने के भय से उस सत्य को भंग कर दूँ ?"

ऐसे ही सत्यप्रतिज्ञ कवि की लेखनी से सत्यहरिश्चन्द्र सा नाटक लिखा जा सकता था।

परिहास-प्रियता

यह स्वभावतः विनोदी थे। सजीवता इनकी नस-नस में समाई थी। यह गंभीर, मुहर्रमी सूरत वाले, नहीं थे और धन तथा घर के लोगों के कारण जो इन्हें कष्ट था वह उनके मुख पर नहीं झलकता था। वे सदा प्रसन्नचित्त और प्रेम में मग्न रहते थे।

पहिली अप्रैल को अंग्रेजी में 'फूल्सडे' (मूर्खों का दिन) कहते हैं। यह हम लोगों के होली के त्यौहार से कुछ मिलता जुलता है। इस दिन दूसरों को मूर्ख बनाने का प्रयत्न किया जाता है। भारतेन्दु जी ने ऐसा सफल प्रयत्न कई वर्षों तक किया था। एक बार आपने नोटिस दी कि विजयनगर की कोठी में एक यूरोपीय विद्वान् सूर्य और चन्द्र को पृथ्वी पर प्रत्यक्ष बुलाकर दिखलावेंगे। एक वर्ष हरिश्चन्द्र स्कूल में एक प्रसिद्ध गवैये का गाना होने की सूचना निकली। जब सहस्रों मनुष्य वहाँ एकत्र हुये तब पर्दा उठा और एक मसखरा मूर्खों की टोपी पहिरे उल्टा तानपूरा लिये गाता हुआ नजर आया। तीसरी बार आपने एक मित्र के नाम से सूचना निकाली कि एक मेम रामनगर के सामने खड़ाऊँ पर चढ़कर गंगा पार करेगी। अच्छा खासा मेला जम गया, पर सन्ध्या होने पर सब को ज्ञात हुआ कि आज एप्रिल फूल्स डे है।

भारतेन्दु जी का ननिहाल शिवाले में था। इनका जन्म भी

वहीं हुआ था और यह वहाँ प्रायः जाया करते थे। बा० जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' के पिता बा० पुरुषोत्तमदास, बा० केशोराम और गोस्वामी रामप्रसाद उदासी स इनकी घनिष्ठ मित्रता अंत तक रही। जब शिवाले जाते तब इन्हीं में से किसी के यहाँ जमघटा बैठता था। एक बार यह बहुत तड़के ही अपने ननिहाल से उठ कर 'रत्नाकर जी' के गृह पर आए। द्वार उस समय बन्द था, इससे आप बाहर ही खड़े होकर 'हर गंगा भाई हरगंगा' का गाना कुछ बनाकर गाने लगे। बा० पुरुषोत्तमदास जी ने यह सुन कर तथा आवाज़ न पहिचान कर नौकर से सबेरे के याचक को एक पैसा देने को भेजा। उसने द्वार खोल कर जो इन्हें देखा तो उलटे पैर हँसता हुआ लौट आया और कहा कि बाबू साहेब हैं।

दक्षिण से एक सुप्रसिद्ध-वैयाकरणी आए हुए थे, जो किसी भाषा के किसी शब्द का मिलता-जुलता अर्थ व्याकरण के सूत्रों की मार से निकाल लिया करते थे। यह राजा शिवप्रसाद के यहाँ उतरे हुए थे और वे ही उन्हें काशीराज के दरबार में लिवा गए थे। महाराज ने इसकी परीक्षा के लिए सभा की। भारतेन्दु जी भी दरबार में उपस्थित थे और महाराज की आज्ञा मिलने पर काशी के गुण्डों की बोली में एक गाली 'झांपोक' जोर से कह डाला। इस पर राजा साहब ने काशिराज से प्रार्थना की कि 'हुजूर देखिए यह ऐसे विद्वान को गाली दे रहे हैं।' इन्होंने तुरन्त कहा कि 'हुजूर देखें राजा साहब अर्थ बतला रहे हैं।' राजा साहब चुप हो गए और महाराज ने भी मुस्कुरा दिया। व्याकरण के अनेक सूत्र लगाने पर भी वे उसका अर्थ न कह सके। इसी प्रकार के एक दूसरे शब्द का भी वे अर्थ न बतला सके।

रथयात्रा के अवसर पर यह बहुत से मनुष्यों के साथ दर्शन

करने जाया करते थे। ऐसे अवसर पर प्रायः लम्बा कुरता पहिरते और रङ्गीन गोटा टँका हुआ दुपट्टा गर्दन से लम्बे बल दोनों ओर लटका लेते थे। चौगोशिया टोपी तो यह सर्वदा ही पहिरते थे। एक बार दर्शन कर लौटते समय चौधराइन जी के बाग में, जहाँ लावनी हो रही थी, यह खड़े हो गये। इनके किसी साथ वाले ने कहा कि 'चलिए, यहाँ क्या है जो आप भीड़ में कष्ट उठा रहे हैं।' एक लावनीबाज बोल उठा कि 'जी हाँ, यहाँ क्या है ? इस प्रकार कविता बनाते हुए कोई गावे तब जाने'। भारतेन्दु जी ने यह सुन कर टोपी उतार कर रख दी और लावनीबाजों के बीच में जा बैठे और इन्हीं में से एक का डफ लेकर लावनी बनाते हुए गाने लगे। जब उन सभों को मालूम हुआ कि यह कौन हैं, तब सब ने क्षमा याचना की।

होली का उत्सव भी यह ख़ूब मनाते थे। संध्या के समय बिरादरी के बहुत से सज्जन तथा मुसाहिबों के साथ रंग लिये गाने बजाने के साथ चौसट्ठी (चतुश्शष्टी) देवी के दर्शन को जाते थे। तात्पर्य इतना ही है कि वे सभी कार्य प्रसन्नचित्त होकर करते थे, केवल नेम ही नहीं निबाहते थे।

गुणियों का सत्कार

गुण-ग्राहकता के भारतेन्दु जी स्वरूप ही थे। यह केवल कवि ही के आश्रयदाता या कविता ही के गुण-ग्राहक नहीं थे प्रत्युत् प्रत्येक गुण या उत्तम वस्तु के ग्राहक थे। इनके पास कोई भी किसी प्रकार की उत्तम वस्तु लेकर आता तो वह विमुख होकर नहीं जाता था। हिन्दी-मातृमंदिर के साधारण से साधारण पुजारी का भी यह सन्मान करते, किसी अन्य विद्या या कौशल के पंडित का पूरा सत्कार करते, यहाँ तक कि अपव्ययी या फिज़ूलखर्च कहला कर भी अच्छे वस्तु के विक्रेता को कोरा

नहीं लौटाते थे। इसीलिए लोगों ने कहा है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचंद।

पर यह स्वयं अपने को 'सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं, कविन के मीत चित हित गुन गानी के' कहते हैं। यह कोई ऐश्वर्यशाली राजा या महाराजा नहीं थे, पर यथाशक्ति इन्होंने किसी को विमुख न फेरा। स्वयं देने के सिवा सभाएँ कर या काशिराज द्वारा ये गुणियों को विशेष रूप से पुरस्कृत भी कराते थे।

सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद पं० बापूदेव शास्त्री जी ने भारतेन्दु जी के आग्रह से सं० १६३४ वि० से नया पंचांग निकालना आरंभ किया था। इसके पहिले के जो पंचांग काशी में प्रकाशित होते थे वे ऐसे भ्रष्ट होते थे कि ग्रामीण पंडितगण भी उनकी निन्दा करते थे। इस नवीन पंचांग के प्रकाशित होने से यह अभाव पूरा हो गया। भारतेन्दु जी ने इसके पुरस्कार में शास्त्री जी को एक बहुमूल्य दुशाला भेंट किया था।

पंडितप्रवर श्री सुधाकर जी द्विवेदी भी प्रसिद्ध ज्योतिषी थे और यही पूर्वोक्त पंडितजी की मृत्यु पर संस्कृत कालेज में उनके स्थानापन्न नियुक्त हुए थे। यह एक बार भारतेन्दु जी के साथ राजघाट का पुल देखने के लिए गये थे, जो उस समय बन रहा था। वहाँ से लौटने पर पंडित जी ने इसी पुल-दर्शन पर एक दोहा इस प्रकार बनाकर सुनाया कि—

राजघाट पर बँधत पुल जहँ कुलीन की ढेर।
आज गए कल देखि के आजहि लौटे फेर॥

इस दोहे के श्लिष्ट 'कल' शब्द पर प्रसन्न होकर भारतेन्दु जी ने इन्हें सौ रुपये पुरस्कार दिये थे। इन्हीं पंडित जी ने सायन तथा निरयण गणनानुसार भारतेन्दु जी की जन्मपत्री बनाई थी। यह पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुई है। भारतेन्दु

जी ने इसके लिये उन्हें पाँच सौ रुपये देकर सम्मानित किया था।

विद्वद्वर भारतमार्तंड श्री गट्टूलाल जी की विद्वत्ता, आशु कविता तथा शतावधान की शक्ति विख्यात थी। जिस समय यह काशी में पधारे थे उस समय भारतेन्दु जी ने इनके सम्मानार्थ एक बड़ी सभा की थी। इसमें काशी के सभी प्रसिद्ध देशीय और यूरोपीय विद्वान एकत्र हुए थे। श्री गट्टूलाल जी दोनों आँखों के अंधे थे, पर उनकी ज्ञानदृष्टि अपूर्व थी। समस्यापूर्ति बात की बात में करते थे। अनेक भाषाओं में कई सज्जनों ने भिन्न-भिन्न प्रश्न किए पर आपने प्रश्नों की समाप्ति पर सबके उत्तर ठीक क्रम से दिये थे।

एक दाक्षिणात्य विद्वान नारायण मार्तण्ड भी उसी समय काशी में आये थे, जिनकी गणित-शक्ति विलक्षण थी। भारतेन्दु जी ने इनका गणित तथा अष्टावधान-कौशल देखने के लिए अपने ही गृह पर सभा कराई थी। इन्होंने बड़े-बड़े हिसाब, जिन्हें हल करने में कई दिन लग जाते, पाँच-पाँच मिनट के भीतर कर दिए। हिसाब करते समय वह बराबर किसी से ताश, किसी से शतरंज और किसी से चौसर खेलते रहते थे तथा अन्य सज्जन उनसे बकवाद करते रहते या प्रश्नों की झड़ी लगाए रहते थे। भारतेन्दु जी ने इन्हें स्वयं बहुत कुछ दिया और काशिराज से भी दिलवाया था। इन्हीं के कारण काशी के अन्य धनाढ्यों से भी इन्हें बहुत पुरस्कार मिला था।

इसी प्रकार दक्षिण ही के एक धनुर्धर वेंकट सुप्पैयाचार्य काशी आए थे। भारतेन्दु जी ने इनका कौशल देखने के लिए रामकटोरा वाले अपने बाग में सभा की थी। इसमें मिस्टर ग्रिफिथ तथा अन्य यूरोपीय और देशीय विद्वान तथा सज्जनगण उपस्थित थे। इन धनधर ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध कर

एक दूसरे व्यक्ति की आँखों पर तिनका बाँध कर तथा उस पर मोम से चाँदी की दुअन्नी चिपकाकर केवल शब्द पर एक तीक्ष्ण तीर ऐसा मारा कि दुअन्नी उड़ गई और तिनका ज्यों का त्यों रह गया। दूसरा कौशल यह था कि जिस प्रकार जयद्रथ के शिर को अर्जुन ने तीरों ही के द्वारा उड़ाकर उसके पिता के गोद में गिरा दिया था, उसी प्रकार इन्होंने एक नारंगी को तीर ही मारकर बाहर चालीस पचास गज दूर खड़े एक मनुष्य के हाथ में गिरा दिया। तीसरा कौशल यह था कि कूएँ में गिरती हुई अंगूठी को बीच ही में से तीर मार कर बाहर निकाल लिया था। इस प्रकार के कई आश्चर्य-जनक दृश्य इन्होंने दिखलाए, जिन्हें देखकर यूरोपीय विद्वानों ने भी कहा कि इनके कृत्य महाभारत की कथित धनुर्विद्या के कौशलों का सत्य होना साबित कर रहे हैं।

बाबा तुलसीदास नामक एक पहलवान जब काशी में आए तब उनकी शक्ति के खेल दिखलाने को नार्मल स्कूल में सभा कराया था। हाथी बाँधने का सूत का मोटा रस्सा यह पैर के अँगूठे में बाँध कर तोड़ डालते थे। लोहे के मोटे से मोटे छड़ को यह मोमबत्ती की तरह दोहरा देते थे। यह दो कुर्सियों पर सिर और पैर रख कर लेट जाते और अधर में स्थित छाती पर छः इंच मोटा पत्थर तुड़वा लेते थे। जटायुक्त नारियल सिर पर मार कर फोड़ डालते थे। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के इन्होंने अमानुषिक शक्ति के कई अद्भुत दृश्य दिखलाए थे। यह जोधपुर के निवासी थे तथा कविता भी करते थे।

सुप्रसिद्ध बिहारीलाल की सतसई का चरखारी निवासी कवि परमानन्द ने संस्कृत में छन्द-बद्ध अनुवाद कर उसका 'शृंगार सप्त-शतिका' नाम रखा था। कन्या-विवाह के कारण धन के लिये यह इस अनुवाद को लेकर पर्यटन को निकले और

घूमते-फिरते काशी आए । भारतेन्दुजी ने यह सप्तशतिका देख कर बड़ी प्रसन्नता प्रगट की और एक सभा करके उक्त पंडितजी को स्वयं पाँच सौ रुपये, बनारसी दुपट्टा आदि वस्त्र देकर विदा दी थी।

सं० १६२८ में अप्पयाचार्य-प्रतिवादी भयंकर कवि-कुल-कंठीरव शतावधानी नामक एक बड़े मेधावी कवि काशी आये थे। काशिराज के दरबार के कुछ पंडितों की धूर्तता से इनका विशेष सम्मान नहीं हुआ। भारतेन्दु जी ने इनका अष्टावधान देखने के लिये अपने ही गृह के छत पर सभा कराइ थी। इसी सभा में पंडित अम्बिकादत्त जी व्यास को सुकवि की पदवी दी गई थी। इसमें इनका पूरा सम्मान किया गया था।

सन् १८७५ ई० में जब महाराज काश्मीर काशी पधारे थे तब उन्होंने भारतेन्दु जी का बहुत सम्मान किया था और इनके निवेदन करने पर महाराज ने पाँच सौ विद्वानों की सभा भी की थी। इस सभा में प्रत्येक विद्वान् को तीन-तीन गिन्नियाँ प्रदान की गईं थीं।

लखनऊ के खाले वाले वाजपेयी वैयाकरणी बौदल बाबा जिनकी अवस्था उस समय अस्सी वर्ष की थी, अपने पौत्र के साथ अपने एक सम्बन्धी के यहाँ मिर्जापुर में टिके हुए थे। वहीं उनके रुपये का बटुआ और लड़के का आभूषण गंगा तट पर से चोरी चला गया और वे बड़े कष्ट से काशी आए। व्यास गणेशदत्त जी उन्हें भारतेन्दु जी के पास लिवा लाए। इन्होंने उन्हें एक मास तक अपने पास रखा और विदा करते समय उनको अच्छी सहायता भी दी।

जिस प्रकार यह दूसरों के दुःख देखकर दुःखी होते थे उसी प्रकार दूसरों के सुख में सुख मानते थे। सन् १८७४ ई० के मार्च महीने में जब राजा शिवप्रसाद को भारत सरकार ने राजा की

पदवी दी थी तब इन्होंने बड़े धूम-धाम से उसका उत्सव मनाया था। नगर में रोशनी, गायन-वादन, विश्वनाथ जी का शृंगार आदि उसके अंग थे। महाराज सर ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह बहादुर काशी-नरेश नेत्र रोग के कारण ज्योतिर्विहीन हो गए थे और अनेक उपचार होने पर अन्त में कलकत्ते के एक नामी डाक्टर द्वारा आँख बनवाई गई थी। उस साल के बुढ़वा मंगल में महाराज शरीक न हो सके, इस पर भारतेन्दु ने काशिराज का बड़ा चित्र अपने कच्छे पर लगा कर 'सब काशीवासियों को दर्शन करा के नेत्र तृप्त करा दिया।' नेत्रों के ठीक हो जाने पर सन् १८८४ ई० में इन्होंने कारमाईकेल में बड़े समारोह से आनन्दोत्सव मनाया था। कुछ कुचालियों के प्रयत्न करने पर भी यह कार्य सफलता-पूर्वक सम्पन्न हो गया था।

लेखन तथा आशुकवित्व-शक्ति

भारतेन्दु जी जिस प्रकार अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे उसी प्रकार कई लिपियों को बड़ी सुन्दरता के साथ लिख सकते थे। नागरी तथा अंग्रेजी के अक्षर बहुत ही सुन्दर बनते थे और महाजनी, फ़ारसी, गुजराती और बँगला भी अच्छी तरह लिखते थे। हिन्दी तो वह इतनी शीघ्रता से लिखते थे कि उर्दू तथा अंग्रेजी लिखने वालों को बाजी लगाकर जीता था। उस पर अक्षर सुडौल ही रहते थे। आश्चर्य यह भी था कि बातचीत करते जाते थे और लेखनी चलती जाती थी। इसी सब को देख-कर डाक्टर राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने इन्हें 'राइटिंग मशीन' की पदवी दी थी।

यों तो लिखने-पढ़ने का सामान सर्वदा इनके पास रहता था और जब यह घूमने-फिरने जाते थे तब भी यह सामान इनके साथ रहता था। यहाँ तक कि थियेटर हाल तथा मजलिसों में

भी यह सामान मौजूद रहता था। यदि किसी कारणवश कलम-दावात न मिल सकी तो कोयले या ठीकरे से दीवार ही पर लिख डालते थे। लेखनी न हुई तो तिनके ही से उसका काम लेते थे। इस बेसामानी के होने पर भी अक्षर बिगड़ते नहीं थे।

इनकी लेखन-शक्ति के समान ही इनकी आशुकवित्व-शक्ति भी बड़ी विलक्षण थी। चार चार मिनट के भीतर समस्यापूर्त्ति कर डालते थे।

काशिनरेश के दरबार में एक बार किसी सज्जन ने एक समस्या दी थी जिसकी कोई पूर्ति नहीं कर सका था। उसी समय भारतेन्दु जी वहाँ आ गए तो महाराज ने इनसे कहा कि "बाबू साहब, इस समस्या की पूर्ति आप कीजिए, किसी कवि से न हो सकी।' इन्होंने तुरन्त लिखकर इस प्रकार सुना दी कि मानो वह उन्हें पहिले ही से याद थी। दरबार के उपस्थित कवियों में से किसी ने ईर्ष्या से कह दिया कि पुराना कवित्त बाबू साहब को याद रहा होगा। यह सुन कर भारतेन्दु जी को क्रोध हो आया और उन्होंने दस बारह कवित्त उसी समस्या पर बराबर बनाकर सुनाए और बार बार पूछने लगे कि 'क्यों कवि जी, यह भी पुराना है न ?' अंत में महाराज के बहुत कहने से रुके। इन्हीं गुणों से महाराज इन पर अत्यधिक स्नेह रखते थे। महाराज का सोमवार घातवार था, इसलिए उस दिन वे किसी से नहीं मिलते थे। एक बार दरबार में उपस्थित न होने का यही कारण भारतेन्दु जी ने भी लिख भेजा जिस पर काशिराज ने जो दोहा उत्तर में लिख भेजा था उसके प्रति अक्षर स्नेह स्निग्ध थे—

हरिश्चन्द्र को चंद्र दिन तहाँ कहां अटकाव।
आवन को नहिं मन रह्यो इहै बहाना भाव॥

भारतमार्तंड श्री गट्टूलाल जी स्वयं विख्यात आशु कवि थे पर वे भी भारतेन्दु की समस्यापूर्ति तथा आशुकवित्व पर मुग्ध

हो गए थे। श्री कुन्दनलाल जी तथा इनके भाई श्री साह फुन्दनलाल भक्त तथा सुकवि थे और कविता में क्रमशः ललितकिशोरी और ललितमाधुरी उपनाम रखते थे। प्रथम से भारतेन्दु जी की घनिष्ठता थी और प्रायः वे लोग एक दूसरे को समस्या दिया करते थे और पूर्तियाँ भी किया करते थे। हरिश्चन्द्र मेगज़ीन की सं० ७८ में एक समस्या 'कान्ह कान्ह गोहरावति है' जिस पर भारतेन्दु जी की पन्द्रह तथा शाह जी की बारह सवैयाएँ पढ़ने योग्य हैं। काशिराज के पौत्र के यज्ञोपवीतोत्सव के समय 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' पर कई श्लोक तत्काल ही बना कर पढ़े थे। उनमें से एक श्लोक यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है—

यद्वत् वटोर्वामनवेषविष्णोः रामस्य जातं यदुनंदनस्य।
तद्वत् कृतं काशिनरेश्वरेण यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्॥

'अंधेर नगरी' प्रहसन एक ही दिन में लिखा गया था। 'विजयिनी विजय वैजयंती' सभा होने वाले दिन ही को कुछ ही देर में लिख डाली गई थी। बलिया का लेक्चर तथा हिन्दी का व्याख्यान (पद्यमय) एक-एक दिन में लिखे गए थे। इस प्रकार देखा जाता है कि कविता करने तथा ग्रंथ-रचना दोनों ही में इनकी गति अतिद्रुत थी।

समाज-सुधार

भारतेन्दु जी हिन्दू-समाज के अंतर्गत अग्रवाल वैश्य जाति के थे और इनका धर्म श्री वल्लभीय वैष्णव संप्रदाय था। पुराने विचारों की जड़ अंग्रेजी साम्राज्य के जम जाने तथा यूरोपीय सभ्यता के फैलने से वहाँ की विचारधारा के संघर्षण से हिल चली थी। पुराने तथा नवीन विचार वाले दोनों पक्ष अपने-अपने हठ पर अड़े थे। एक पक्ष वाले दूसरे को नास्तिक, क्रिस्तान, भ्रष्ट कह रहे थे तो दूसरे उन्हें 'कूपमंडूक, अंधविश्वासी,

आदि की पदवी दे रहे थे। दोनों ही पक्षवाले इनसे अपने पक्ष समर्थन होने की आशा कर रहे थे पर यह सत्य के सच्चे भक्त थे और जो कुछ इन्होंने देश तथा समाज के लिये उचित समझा उसे निःसंकोच होकर कह डाला। यह वर्णव्यवस्था मानते थे और वैष्णव-धर्म क पक्के अनुगामी थे। साथ ही समाज के दोषों का निराकरण भी उचित समझते थे। कहते हैं कि 'सब उन्नतियों का मूल धर्म है......ये सब तो समाज धर्म हैं जो देश काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते है......बहुत सी बातें जो समाज विरुद्ध मानी हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए, जैसे जहाज का सफ़र, विधवा-विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन ही म ब्याह कर उनका बल, वीर्य, आयुष्य सब मत घटाइए '......कुलीन प्रथा, बहु विवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए।......सब लोग आपस में मिलिए।' यह उनकी प्रौढ़ावस्था का उपदेश है।

स्त्री-शिक्षा के संबंध में यह उद्योग भी बराबर करते थे। मिस मेरी कारपेंटर के इस उद्योग में यह प्रधान सहायक थे। बंगाल, बंबई तथा मंदराज विश्वविद्यालयों की परीक्षोतीर्ण विद्यार्थिनियों के लिये बनारसी साड़ियाँ आदि पुरस्कार भेजकर उन्हें उत्साहित करते थे। वे ईसाई चाल पर दी जाने वाली शिक्षा के विरोधी थे। उनका कथन था कि 'ऐसी चाल से उन्हें शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।' इन्होंने स्वयं अपनी लड़की को अच्छी शिक्षा दी थी। सन् १८८० ई० के मई में इन्हीं के विवाह क अवसर पर भारतेन्दु जी ने स्त्रियों के अश्लील गाने को बद कर दिया था। अग्रवाल बिरादरी में पत्तलें पहिले परस जाने के बाद भाइयों को भोजन के लिए बैठाने की प्रथा उन्हीं ने निकाली। गाली गाना बंद करने पर

अनेक सज्जनों ने इन्हें धन्यवाद दिया था। रामलीला पुस्तक में ऐसे अवसर पर गाने योग्य दो एक पद इन्होंने दिए हैं। विलायत-यात्रा पर आप की सम्मति थी कि—

रोकि विलायत-गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छोड़ाइ प्रचार घटायो॥

समय के प्रभाव से जिन लोगों का संसर्ग आवश्यक हो गया है उन लोगों के देश समाज आदि का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। ईश्वर की सृष्टि के एक से एक उन्नत देश तथा जाति से मिलकर उनके गुण आदि लेते हुए अपनी उन्नति न करना अपनी ही हानि है, इसीसे उन देशों के पर्यटन में धार्मिक या सामाजिक बंधन डालना भी हानिकारक है।

बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दुन घबराई॥

क्यों न हो, हिन्दू-समाज तैंतीस करोड़ देवताओं से भी नहीं अघाया है, क़बर, गाजीमियाँ, भूत-प्रेत आदि भी पूजता है।

खसम जो पूजै देहरा, भूत पूजनी जोय।
एकै घर में दो मता, कुशल कहाँ ते होय॥

हिंदुओं की आपस की फूट, द्वेष, आलस्य, अहम्मन्यता, मुकद्दमे-बाजी आदि सब पर इन्होंने अपने लेखों में कुछ-कुछ आक्षेप विनोद लिए हुए किया है।

देश-सेवा

मातृभाषा-भक्त भारतेन्दु जी के हृदय में देशसेवा करने का उत्साह कम नहीं था और उन्होंने प्रायः साथ ही दोनों कार्य में हाथ लगा दिया था। जगन्नाथपुरी से लौटने पर देशोपकारक बाबू हरिश्चन्द्र ने पाश्चात्य शिक्षा का अभाव तथा उसकी आवश्यकता देखकर अपने गृह पर ही एक अंग्रेजी तथा हिन्दी

की पाठशाला खोली। यद्यपि कुछ सरकारी तथा मिशन स्कूल खुल चुके थे पर उनमें जन-साधारण अपने-अपने बालकों को अनेक विचारों से तथा फ़ीस आदि देने में असमर्थ होने से नहीं भेज सकते थे। इसमें अधिक लड़के बिना फ़ीस दिए पढ़ते थे और उन्हें पुस्तक, लेखनी आदि भी बिना मूल्य दी जाती थी। कुछ निराश्रय बालकों को वस्त्र, भोजन भी मिलता था। इस पाठशाला का पहिला नाम 'चौखंभा स्कूल' था और इसका कुल व्यय भारतेन्दु जी स्वयं चलाते थे।

पहिले यह प्राइमरी स्कूल था फिर मिडिल स्कूल हुआ। कुछ दिन हाई स्कूल रहकर यह पुनः मिडिल स्कूल हो गया। सन् १८८५ ई० में भारतेन्दु जी की मृत्यु के अनंतर इसका नाम हरिश्चन्द्र स्कूल रखा गया। अब यह हरिश्चन्द्र इंटरमीडिएट कालेज कहलाता है।

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' मंत्र को मानने वाले भारतेन्दु जी स्कूल खोलने के बाद ही से मातृभाषा की सेवा की ओर झुक पड़े। हिन्दी समाचार पत्रों की कमी देखकर 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' तथा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'बालाबोधिनी' आदि 'पत्र-पत्रिका' स्वयं अपने व्यय से निकाले और दूसरों को सहायता देकर अनेक पत्र प्रकाशित कराए। इन पत्रों से इन्हें बराबर धन की हानि पहुँचती रही। हिन्दी में पुस्तकों का अभाव देखकर समयानुकूल पुस्तकों की रचना आरम्भ की और हिन्दुओं में हिन्दी के प्रति प्रेम कम देखकर उन्हें स्वयं प्रकाशित कर बिना मूल्य वितरण करना आरम्भ कर दिया। अन्य लोगों को हिन्दी ग्रंथ-रचना का उत्साह दिला कर बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कराईं। अनेक प्राचीन-काव्य ग्रंथ भी छाप कर बाँटे गये।

सं० १९२७ में भारतेन्दु जी ने कविता-वर्द्धिनी-सभा स्थापित

की जो इनके घर पर या रामकटोरा बाग में हुआ करती थी। सरदार, सेवक, दीनदयाल गिरि, मन्नालाल 'द्विज', दुर्गादत्त गौड़ 'दत्त', नारायण, हनुमान आदि अनेक प्रतिष्ठित कविगण उस सभा में आते थे। व्यास गणेशराम को इसी सभा ने प्रशंसा पत्र दिया था। साहित्याचार्य्य पं० अम्बिकादत्त व्यास को सुकवि की पदवी तथा प्रशंसा पत्र इसी में दिया गया था। कविसमाज भी होता रहता था और मुशायरा भी।

सं० १९३० वि० में पेनीरीडिंग क्लब स्थापित हुआ, जिसमें अच्छे-अच्छे लेखकों के लेख पढ़े जाते थे। मैगज़ीन में प्रकाशित प्राय: सभी लेख इसमें पढ़े गये थे। गायन-वादन भी इसमें मनोरंजनार्थ रखा जाता था। भारतेन्दु जी एक बार श्रांत-पथिक का स्वाँग बनाकर इसमें आये थे और गठरी पटक कर तथा पैर फैलाकर इस ढंग से बैठ गये थे कि दर्शक-गण उन्हें देखकर आनंद से लोट-पोट हो गये थे। चूसा पैगम्बर का भी अच्छा स्वाँग बनाया था। नंगे शिर ज़री की कफ़नी पहिने और आगे रंगबिरंगे शर्बतों से बोतल सजाये हुए एक चौकी पर आ खड़े हुए थे। पं० चिन्तामणि राव धड़फल्ले तथा पं० माणिक्यलाल जोशी शिष्य बने हुए दोनों ओर चँवर झल रहे थे। लंबा कागज का पुलिंदा खोलते जाते और उपदेश पढ़ते जाते थे।

तदीय समाज सं० १९३० वि० में स्थापित हुआ था, जिसका उद्देश्य ही धर्म तथा ईश्वर प्रेम था। गो-बध रोकने के लिये इस समाज के उद्योग से साठ सहस्र हस्ताक्षर सहित एक प्रार्थना-पत्र दिल्ली दरबार के समय भेजा गया था। गो-महिमा आदि लेख भी लिखकर ये बराबर आन्दोलन मचाते रहे। उसी समय से अनेक स्थानों में गो-रक्षिणी सभायें तथा गोशालाएँ खुलने लगी। मदिरा-मांस सेवन रोकने के लिए भी

इस समाज ने प्रयत्न किया और दो प्रकार की हज़ारों छोटी-छोटी बही सी पुस्तकें छाप कर वितरित कीं। इनमें एक प्रकार बहियों पर मदिरा न सेवन करने की और दूसरे पर मांस न खाने की प्रतिज्ञाएँ साक्षियों के सामने लिखाई जाती थीं। इस समाज ने देशी वस्तुओं के व्यवहार करने की प्रतिज्ञाएँ भी लोगों से कराई थीं। इस समाज से एक मासिक पत्रिका 'भगवद्भक्ति-तोषिणी' नाम की निकली थी जो कुछ ही दिन बाद बंद हो गई। इसके अधिवेशनों में, जो प्रति बुधवार को होता था, गीता तथा भागवत का पाठ होता था और संकीर्तन भी होता था।

श्री ब्रजराज समाज के, तुम सुन्दर सिरताज।
दीजै टिकट निवाज करि, नाथ हाथ हित काज॥

भारतेन्दु जी ने स्वयं 'तदीय नामांकित अनन्य वीर वैष्णव' की पदवी लेते समय दूसरे नियमों को आजन्म निबाहने की प्रतिज्ञा की थी।

इन सभा समाज आदि के सिवा यह सं० १९२४ वि० में यंगमैन्स एसोसिएशन और सं० १९२५ में डिबेटिंग क्लब, स्थापित कर चुके थे। द्वितीय का मुख्य उद्देश्य भाषा तथा समाज का सुधार था। इसमें सामाजिक विवाद-ग्रस्त लेख आदि पढ़े जाते थे। 'काशी सार्वजनिक सभा' आदि भी इन्होंने आरम्भ किये थे पर सभासदों के उत्साह की कमी से विशेष कार्य न कर वे बंद हो गईं।

सन् १८६८ ई० में सर विलियम म्योर इस पश्चिमोत्तर प्रांत के छोटे लाट नियुक्त होकर आये। यह विद्याप्रेमी थे और इन्होंने मुसलमानों के इतिहास पर कई ग्रंथ लिखे हैं। भारतेन्दु जी ने हिंदी को राज-भाषा बनाने के लिये इनके समय में बहुत कुछ आंदोलन किया था पर वे असफल रहे। भारतेन्दु

जी तथा राजाशिवप्रसाद में हिंदी को लेकर मनोमालिन्य हो चुका था। राजा साहब ने हाकिमों के ही शरण में रहकर खिचड़ी हिन्दी का प्रचार करना उचित समझा, जिससे वे इनके इस आंदोलन के विपक्ष में रहे। ऐजुकेशन कमीशन के समय भी इन्होंने स्वयं बहुत उद्योग किया और प्रयाग हिन्दू समाज की भी बहुत सहायता की थी पर उस समय विशेष फल न हुआ।

काशीनरेश की सभा, बनारस इन्स्टीट्यूट तथा ब्रह्मामृत-वर्षिणी सभा के प्रधान सहायक रहे। कविवचनसुधा में इन सभाओं के विषय की सूचनाएँ, टिप्पणी आदि निकलती रहती थीं।

होमियोपैथिक चिकित्सा का आरम्भ होने पर इन्होंने सं० १९२५ में पहिले पहल एक दातव्य चिकित्सालय खोला जिसके व्यय के लिये यह दस रुपये मासिक बराबर सं० १९३० वि० तक देते रहे। सं० १९२८ के इंटरनेशनल एक्जिबिशन में इन्होंने कुछ कार्य किया था, जिसके लिए युवराज सप्तम एडवर्ड का धन्यवाद पत्र आया था। काशी की करमाइकेल लाइब्रेरी तथा बालसरस्वती भवन के स्थापन में पुस्तकें देकर इन्होंने सहायता की थी। बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के नेशनलफंड में सहायता दी और उनके काशी आने पर उनका सत्कार भी किया था। सुप्रसिद्ध विद्वान पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जब काशी पधारे थे तब वे इनसे मिलने आये थे और भारतेन्दु जी ने कुछ पुस्तकें देकर उनका आदर किया था।

भाई का इनसे अलग होना

भारतेंदु जी के छोटे भाई श्री गोकुलचंद्र ने वयःप्राप्त होते ही इनसे पैतृक संपत्ति के बँटवारे के लिए आग्रह किया और यह शीघ्र ही हो गया। २१ मार्च सन् १८७० ई० को विभाजन-पत्र

लिखा गया और दूसरे दिन उसकी रजिस्ट्री हो गई। कुल अचल संपत्ति के तीन भाग किए गए, जिनमें दो भाग दोनों भाइयों ने लिए और तीसरा इनकी विमाता के प्रबंध में दिया गया। इस तीसरे भाग की आय में धार्मिक कृत्यों, ठाकुरजी की सेवा-पूजा, बड़ों के पिंड श्राद्ध, जाति के रस्म आदि के व्यय के साथ विमाता का व्यक्तिगत व्यय भी सम्मिलित था। इसके साथ यह भी शर्त थी कि यह भाग कभी विभाजित न हो। चल संपत्ति के संबंध में केवल इतना लिखा है कि इन लोगों ने एक मत होकर आपस में बाँट लिया है। भारतेंदु जी से उदार पुरुष ने विमाता तथा अनुज से अपने भाग के लिए क्या कहा सुनी की होगी, यह केवल समझ लेने की बात है। इस प्रकार अचल संपत्ति में एक तिहाई भाग देकर यह अलग कर दिए गए।

इसी प्रकार भारतेंदु जी के ननिहाल की संपत्ति में इनका जो आधा भाग था पर उसे भी इनकी मातामही ने दो वसीअत-नामे तथा एक बख़्शिशनामा लिखाकर इनके छोटे भाई को दे दिया। इन पत्रकों के लिखने का कोई वैधानिक स्वत्त्व या अधिकार इनकी मातामही को नहीं था पर भारतेंदु जी ने संतोष कर लिया और इसके लिए मातामही की मृत्यु के अनंतर इन्होंने किसी प्रकार का झगड़ा नहीं उठाया। बँटवारे के बाद चार पाँच वर्ष के भीतर ही इनकी कुल अचल संपत्ति ऋण के पीछे बिक गई और इनके लिए न रहने का स्थान तथा न आय का कोई आधार रह गया। यह उसी तीसरे भाग की कोठी भारतेंदु भवन तथा रामकटोरा वाले बाग में रहा करते थे। इसी कोठी में इनका परलोकवास हुआ। इनकी पत्नी भी इसी में २६ जुलाई सन् १९२६ ई० को दिवंगत हुईं।

यह तीसरा भाग एक प्रकार के रहस्य में आरंभ ही से आच्छादित रखा गया था कि यह ठाकुरजी को अर्पित कर

दिया गया है और इससे भारतेंदु जी या उनके वंशजों से कोई संबंध नहीं है। केवल भारतेंदु जी के अनुज तथा उनके वंशज ही इस भाग का प्रबंध तथा उपभोग कर सकते हैं। भारतेंदु जी के दौहित्रों ने इस रहस्य को मिटाने तथा अपना भाग प्राप्त करने के लिए न्यायालय में वाद उपस्थित किया और इसमें वे सफल हुए। अंत में दोनों पक्ष ने झगड़ा निपटाना उचित समझा और आपस में संधि भी हो गई पर इस संधिपत्र के अनुसार इलाके का जो भाग दौहित्रों को दिया है उसे लेकर पुनः झगड़ा चल रहा है।

गवर्नमेंट की कृपा और कोप

जिस समय इन्हें कुछ भाग देकर अलग कर दिया गया था उसी वर्ष अवैतनिक मैजिस्ट्रेसी का नियम बना था और काशी के दस सज्जन इस पद पर नियत हुए थे। उनमें सब से छोटी अवस्था वाले यही भारतेन्दु जी थे। कुछ दिन बाद यह म्युनिसिपल कमिश्नर भी नियत हुए और राजकर्मचारियों में भी इनका मान होने लगा। इनकी प्रकाशित पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की सौ-सौ प्रतियाँ सरकार में बराबर ली जाने लगीं। पंजाब विश्वविद्यालय ने इन्हें एफ० ए० कक्षा के संस्कृत का परीक्षक बनाया। सहज ईर्ष्यालु पुरुषगण इतने अल्पवयस्क पुरुष की यह बढ़ती न देख सके और हाकिमों से इनकी चुगली खाने लगे। यह स्वभावतः स्पष्टवादी थे और सत्य सदा कटु होता है, इससे इन लोगों को बराबर अवसर मिलते रहते थे। यह विनोद-प्रिय थे इसलिए इनके लेखों में मज़ाक भी अधिक रहता था।

इनके एक लेख 'लेवी प्राण लेवी' का अर्थ कुछ दुष्टों ने राजकर्मचारियों को उलटा समझा दिया और उनके कान में भी वही:

गूँजने लगा। इसके अनंतर एक मर्सिया निकला, जिसको सर विलियम म्योर पर आक्षेप करके लिखा गया, बतलाया गया। राजा शिवप्रसाद तथा छोटे लाट दोनों ही एक आँख का चश्मा (क्लिजिंग ग्लास) लगाते थे। एक लेख 'भुतही इमली का कनकौआ' राजा साहब पर लिखा गया, जिसे छोटे लाट पर लिखा गया बतलाया गया। बस, गवर्नमेन्ट की कुदृष्टि इन पर पूरे रूप से पड़ गई। स्व० बा० बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं—'यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चन्द्र के ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कवि-वचन-सुधा के हर नंबर के लिये लोगों को टकटकी लगाए रहना पड़ता था। उन्होंने कवि-वचन-सुधा के कई लेखों को राजद्रोह-पूरित बताया, दिल्लगी की बातों को भी वह निंदासूचक बताने लगे।'......सरकारी सहायता बन्द हो गई। शिक्षा विभाग के डारेक्टर कैंपसन साहब ने बिगड़कर एक चिट्ठी लिखी, हरिश्चन्द्र जी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर वहाँ यार लोगों ने जो रङ्ग चढ़ा दिया था वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चन्द्र जी की चलाई "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" और "बालाबोधिनी" नामक दो मासिक पत्रिकाओं की सौ सौ कापियाँ प्रान्तीय गवर्नमेन्ट लेती थी वह भी बन्द हो गई। इसके अनन्तर इन्होंने राजकर्मचारियों से बिलकुल सम्बन्ध त्याग दिया। आनरेरी मजिस्ट्रेसी आदि सब सरकारी कामों को इन्होंने छोड़ दिया और देश सेवा तथा हिन्दी की उन्नति में दत्तचित्त हो गये।

सम्मान

भारतेन्दु जी पर भारत सरकार की कृपा तथा कोप का उल्लेख हो चुका है। जिस समय इन्होंने आनरेरी मजिस्ट्रेसी से

इस्तीफा दिया था, उस समय एक अन्य रईस ने इनको लिखा था कि—"यदि ऐसा है तो आपने अच्छा न किया। हाकिम लोग आपकी तजवीज को बहुत पसन्द करते हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ कोई आपके विरुद्ध कुछ नहीं कहता। यदि सम्भव हो तो इस्तीफा उठा लीजिए और हम लोगों को आनरेरी मजिस्ट्रेट की कचहरी से अपने समान एक सुजन साथी को न न खोने दीजिए।"

सन् १८७५ ई० के नवम्बर में काश्मीर नरेश महाराज रणवीरसिंह जी काशी पधारे थे और इनका बहुत सम्मान करते हुए इन पर विशेष स्नेह प्रगट किया था। उसी वर्ष के दिसम्बर मास में ग्वालियर के अधिपति महाराज जयाजीराव सिंधिया तथा रीवां के अधीश्वर महाराज रघुराजसिंह जी का काशी में शुभागमन हुआ। उक्त दोनों श्रीमन्तों ने भारतेन्दु जी को बुलाकर इनसे आदर-पूर्वक भेंट किया और इनका सत्कार किया था। इसी महीने में जोधपुर नरेश भी काशी आए थे और भारतेन्दु जी को स्टेशन ही पर बुलाकर इन्हें सम्मानित किया था।

सन् १८७७ ई० में श्रीमान् वाइसराय लार्ड लिटन काशी आए थे और उन्होंने भारतेन्दु जी को स्वयं बुलाकर इनसे बहुत देर तक बातचीत की थी। प्रिंस ऑव वेल्स (स्वर्गीय सम्राट एडवर्ड सप्तम) के भारत में आगमन के उपलक्ष में इन्हें भी एक मेडल मिला था। काशिराज ने विलायत में एक कुँआ खुदवाया था जिसके लिये उनके पास कई पदक आए थे। इनमें से उक्त श्रीमान् ने एक पदक भारतेन्दु जी को भी दिया था। सन् १८८२ ई० में जो शिक्षा कमीशन बैठा था उसके यह एक प्रधान साक्षी चुने गए थे।

हिन्दूपति महाराणा श्री सज्जन सिंह जी इन्हें बहुत मानते थे और इनका सदा सत्कार भी किया करते थे। एक बार तो उन्होंने लिखवा भेजा था कि 'बाबू हरिश्चन्द्र जी इस राज्य को अपनी सीर समझें।' श्रीमान् काशिराज का इन पर कितना अधिक स्नेह था इसका कई स्थानों पर उल्लेख हो चुका है। महाराज विजयनगरम् ने एक बार पाँच सहस्र मुद्रा भेंट देकर तथा इनके गृह पर जाकर इनका सम्मान किया था। महाराज डुमरावँ श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह प्रतिवर्ष इन्हें एक सहस्र रुपये देकर सम्मानित करते थ। राजा वेंकट गिरि तथा राजा छत्रपुर इनके गृह पर जाकर इनसे मिला करते थे। भूपाल की नवाब शाहजहाँ बेगम भी इनसे पत्र-व्यवहार रखती थीं।

काशीस्थ डाक्टर पूर्णचंद्र बनर्जी के भाई सुप्रसिद्ध बंग कवि हेमचन्द्र बनर्जी इन्हें बहुत मानते थे और जब ये कलकत्ते जाते थे तब इन सज्जनों में खूब साहित्यादि की चर्चा होती थी। द्वारिकानाथ विद्याभूषण, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, 'हिंदू पेट्रियट' के संपादक कृष्णदासपाल, पंजाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार नवीनचन्द्र राय, शान्तिग्रामदास, अतरसिंह भदौड़िया, बाबा संतोषसिंह, पूना के गणेश वासुदेव जोशी, डाक्टर भाऊदाजी प्रभृति विद्वानों से इनकी घनिष्ठ मित्रता थी। केवल भारतीय विद्वत्समाज ही नहीं प्रत्युत योरुपीय विद्या-प्रेमी गण भी इन्हें बड़ी आदर की दृष्टि स देखते थे। वे लोग इन्हें भारत का 'पोएट लॉरिएट (राजकवि) कहते थे।

इनकी सर्वजन प्रियता तथा सबके आदर के पात्र होने का यही एक नमूना बहुत है कि पंडित रामशंकर जी व्यास के यह प्रस्ताव करते ही कि इन्हें 'भारतेन्दु' की पदवी सर्व साधारण की ओर से दी जाय, सभी हिन्दी प्रेमियों ने एक स्वर से इस

प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और वह इनके नाम से भी अधिक प्रसिद्ध हो उठा।

'भारतेन्दु' की पदवी

पं० सुधाकर जी द्विवेदी अपनी रामकहानी की भूमिका में लिखते हैं कि "यह मेरे सामने की बात है कि लाहौर के जल्ला पंडित के वंश के पंडित रघुनाथ जंबू के महाराज श्री रणवीर सिंह की नाराज़ी से जंबू छोड़कर बनारस चले आये थे। उनसे और बाबू हरिश्चन्द्र जी से बहुत मेल था। बनारस के अति प्रसिद्ध विद्वान् पंडित बाल शास्त्री ने जब अपनी व्यवस्था से कायस्थों को क्षत्री बनाया, उस समय बाबू साहब ने अपनी मेगजीन में 'सबै जाति गोपाल की' इस सिरनामे से काशी के पंडितों की बड़ी धूर उड़ाई। इस पर पंडित रघुनाथ जी बहुत नाराज़ होकर बाबू साहब से बोले कि "आपको कुछ ध्यान नहीं रहता कि कौन आदमी कैसा है, सभी का अपमान किया करते हो। जैसे आप अपने सुयश से ज़ाहिर हो उसी तरह भोगविलास और बड़ों के असम्मान करने से आप कलंकी भी हो, इसलिये आज से मैं आप को भारतेन्दु नाम से पुकारा करूँगा।" उस समय मैं और भरतपुर के राव श्रीकृष्ण देवशरण सिंह मौजूद थे। हम लोग भी हँसी से कहने लगे कि बस बाबू साहब सचमुच भारतेन्दु हैं। बाबू साहब ने भी हंसकर कहा कि 'मैं नाराज़ नहीं हूँ आप लोग खुशी से मुझे भारतेन्दु कहिए।' मैंने कहा कि 'पूरे चाँद में कलंक देख पड़ता है, आप दूइज के चाँद हैं जिसके दर्शन से लोग पुण्य समझते हैं।' यह मेरी बात सब के मन में ख़ुशी के साथ समा गई। धीरे-धीरे इनकी पोथियों पर दूइज के चाँद की सूरत छपने लगी। इस तरह अब आज इज़्ज़त के साथ बाबू साहब भारतेन्दु कहे जाते हैं।"

इसके पहिले राजा शिवप्रसाद को भारत सरकार की ओर से सी० आई० ई० (भारत नक्षत्र) की पदवी मिल चुकी थी और राजा साहब तथा इनमें मनोमालिन्य हो जाने से यह भारत सरकार के कोप भाजन हो चले थे। ज्यों-ज्यों सरकार का इन पर कोप बढ़ता जाता था त्यों-त्यों यह अधिक लोकप्रिय होते जाते थे। इनके गुणों की कीर्ति फैलती जा रही थी। देशीय तथा विदेशीय विद्वन्मंडली में इनकी प्रतिभा तथा रचनाओं की ख्याति खूब फैल चुकी थी और वे लोग मुक्तकंठ से इनकी प्रशंसा करने लगे थे। 'उत्तरीय भारत के कवि सम्राट' 'एशिया का एक मात्र समालोचक' आदि पदवियाँ वे दे रहे थे। अंततः सन् १८८० ई० में बा० हरिश्चन्द्र को चिढ़ाने की इसी पदवी 'भारतेन्दु' से इन्हें विभूषित करने के लिए पं० रामेश्वर दत्त व्यास ने एक लेख में प्रस्ताव किया। सारे देश ने इसे स्वीकार कर लिया और प्रजा, भारत सरकार तथा यूरोपीय विद्वान् सभी इन्हें भारतेन्दु लिखने लगे।

चिंता, रोग तथा स्वर्गवास

भारतेन्दु जी सांसारिक झंझटों से दूर होकर मातृभाषा-देशसेवा में निरत रहते थे। इस कारण स्वभावतः सारा परिवार इनसे अप्रसन्न रहता। इससे इनका मन गृह पर कम लगने लगा। बँटवारे के बाद चार पाँच वर्ष में इनकी अस्थावर संपत्ति के निकल जाने से भारतेन्दु जी को परोपकार, दान, पुण्य, देश सेवादि कार्यों के लिए अर्थकष्ट होने लगा। ऐसे ही समय भारत-सरकार ने भी इन पर अपनी कोप-दृष्टि की और इनकी मातृभाषा की सेवा में बाधा पड़ने लगी। इन दोनों बातों का भारतेन्दु जी ने अपने दो नाटकों में अत्यन्त मृदु शब्दों में उल्लेख किया है। कहते हैं कि 'क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर

भी उसकी इच्छा बिना ही दुःखी होते हैं और दुष्ट मूर्ख के अपमान सहते हैं। केवल प्राण मात्र त्याग नहीं करते पर उनकी सब गति हो जाती है।' 'प्रेम योगिनी' की भूमिका का यह वाक्य उनके उस समय के आत्मक्षेत्र का सूचक है। हिन्दी तथा देश के लिये तो इनका हृदय चिन्तादग्ध था ही, उस पर अपने ही लोगों की या जिनके लिये वे यह अपना तन-मन-धन अर्पण कर रहे थे उन सबकी उदासीनता इनका हृदय जर्जर कर रही थी।

ऐसे प्रसन्नचित्त विनोद-प्रिय कवि-हृदय में यह आत्मक्षोभ अधिक नहीं टिका। पर इसका असर उस पर अवश्य बना रहा। वे परमाशा रूपी ईश्वर-प्रेम की ओर झुक पड़े और दूसरे ही वर्ष लिखे गये चंद्रावली नाटिका की भूमिका में इनका आत्माभिमान तथा इनकी कृष्ण-प्रति अनन्य भक्ति उमड़ पड़ी है।

भारतेन्दु जी का अर्थ-संकोच इतना बढ़ा कि जमा गायब हो गई और ऋण का बोझ ऊपर से पड़ गया। एक एक का दो लिखवाने वालों ने जल्दी कर डिगरियाँ प्राप्त कर लीं और इनसे रुपया वसूल करने का उपाय करने लगे। इन्हें मेवाड़-नरेश, काशिराज आदि कई गुणग्राही नरेशों से सहायता मिलती थी पर वे सब ऊपर ही ऊपर परोपकार में व्यय हो जाती थीं।

इस प्रकार देश, समाज, मातृभाषा आदि की उन्नति तथा अपनी कौटुम्बिक और ऋण आदि की चिंताओं से ग्रस्त होने के कारण इनका शरीर जर्जर हो रहा था। इसी समय महाराणा सज्जनसिंह के आग्रह तथा श्रीनाथ जी के दर्शन की लालसा से सन् १८८२ ई० में यह उदयपुर गए। इतनी लम्बी यात्रा के प्रयास को इनका जीर्ण शरीर नहीं सह सका। ये बीमार पड़ गए और श्वास, खाँसी तथा ज्वर तीनों प्रबल हो उठे। उस पर एकाएक एक दिन हैज़ा का इन पर कड़ा आक्रमण हुआ। यहाँ

तक कि कुल शरीर ऐंठने लगा पर अभी आयुष्य थी, इससे ये बच गए। सं० १९४० चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को लिखे गए नाटक के समर्पण में लिखते हैं—'नाथ ! आज एक सप्ताह होता है कि मेरे इस मनुष्य जीवन का अंतिम अंक हो चुकता, किन्तु न जाने क्या सोच कर और किस पर अनुग्रह करके उसकी आज्ञा नहीं हुई। नहीं तो यह ग्रंथ प्रकाश भी न होने पाता। यह भी आप ही का खेल है कि आज इसके प्रकाश का दिन आया।'

अभी ये पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुए थे कि शरीर की चिंता छोड़कर अपने लिखने-पढ़ने आदि कार्यों में लग गए। दवा भी कौन करता है, जब रोग प्रबल थे सभी को चिंता थी पर जब वे निर्बल हुए तब अन्य सांसारिक विचारादि प्रबल हो गए। अस्तु, रोग इस प्रकार दब गए थे, पर जड़ मूल से नष्ट नहीं हुए थे। यद्यपि देखने में कुछ रोज तक रोग मालूम न पड़ा पर भीतर रोग बना रहा। बीच में दो एक बार उमड़ आया था पर शांत हो गया था। पुनः दो महीने से फिर श्वास चलने लगा, कभी-कभी ज्वर भी हो जाता था। औषधि होती रही, शरीर कृश तो हो चला था पर ऐसा नहीं था कि जिससे किसी काम में हानि होती। क्षयी के चिह्न पैदा हुए। एकाएक दूसरी जनवरी से बीमारी बढ़ने लगी। ६ वीं तारीख को दोपहर से श्वास वेग से आने लगा, कफ में रुधिर आ गया। अन्ततोगत्वा बात करते ही करते पौने दस बजे रात को भयंकर दृश्य आ उपस्थित हुआ। अन्त तक श्रीकृष्ण का ध्यान बना रहा। देहावसान समय में "श्रीकृष्ण ! श्रीराधाकृष्ण ! हे राम ! आते हैं मुख दिखलाओ।" कहा, और कोई दोहा पढ़ा जिसमें से 'श्रीकृष्ण··· सहित स्वामिनी', इतना धीरे स्वर से स्पष्ट सुनाई दिया। देखते ही देखते प्यारे हरिश्चन्द्रजी हम लोगों की आँखों से दूर हो गए। चन्द्रमुख कुम्हिला कर चारों ओर अन्धकार हो गया।

सारे घर में मातम छा गया गली-गली में हाहाकार मचा और सब काशीवासियों का कलेजा फटने लगा। लेखनी अब आगे नहीं बढ़ती। बाबू साहिब चरणपादुका पर……।'

ऐसे लोकप्रिय देशहितैषी के लिये यथायोग्य शोक प्रकाश किया गया था। शोक प्रकाशक तारों और पत्रों के ढेर लग गये थे। कितनी कविताएँ, लेख तथा चरित्र छपे। एक संग्रह शोकावली के नाम से पीछे से प्रकाशित भी हुआ था। इनके स्मारक स्थापित करने की चर्चा बहुत उठी पर अब केवल 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जाएगी।' बस, भारत के देश से उसका कोई भी शुभचिंतक ऐसी कहानी से अधिक पुरस्कार में या स्मृति में क्या माँगने की आशा कर सकता है ?

भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र का देहावसान माघ कृ० ६ सं० १९४१ वि० (६ जनवरी सन् १८८५ ई०) को हुआ था। आप की अवस्था उस समय चौंतीस वर्ष चार महीने की थी। यद्यपि भारतेन्दु को अस्त हुए सत्तर वर्ष होते आए पर आज भी उसकी ज्योत्स्ना मंद नहीं हुई है।

संतति तथा स्त्री

भारतेन्दु जी को दो पुत्र और एक पुत्री हुई थी, पर प्रथम दोनों शैशवावस्था में ही जाते रहे। उनकी पुत्री भी अत्यंत निर्बल थीं और शैशवकाल में सदा रुग्ण रहती थीं। इन्हें भारतेन्दु जी की एक मात्र संतान कहलाने का सौभाग्य प्राप्त था, इससे यह सब रोगों से मुक्त हो गईं। इनकी शिक्षा का भी अच्छा प्रबन्ध हुआ था। यह हिन्दी तथा बंगला अच्छी तरह जानती थीं और संस्कृत का इतना ज्ञान था कि श्रीमद्भागवत आदि का परायण कर लेती थीं। इनका विवाह सं० १९३७ वि०

के वैशाख मास (सन् १८८० की मई) में स्वर्गीय बा० बलदेव-दास जी से भारतेन्दु जी ने स्वयं किया था। यह विवाह बड़े धूम-धाम से हुआ था। इनका नाम श्रीमती विद्यावती था। इन्हें पाँच पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ हुई थीं। पुत्रों के नाम वयानुक्रम से स्व० ब्रजरमणदास, ब्रजरत्नदास (ननिहाल का नाम रेवतीरमण-दास) स्व० ब्रजमोहनदास, ब्रजजीवनदास और ब्रजभूषण-दास हैं।

सं० १९५७ वि० के अगहन कृष्ण २ को श्रीमती विद्यावती का और सं० १९८६ के चैत्र कृष्ण २ को पूज्यपाद बा० बलदेव-दास जी का स्वर्गवास हो गया।

भारतेन्दु जी के छोटे भाई गोकुलचंद्र जी को दो पुत्र और दो पुत्री थीं। पुत्रों का नाम कृष्णचन्द्र तथा ब्रजचन्द्र था। प्रथम के तीन पुत्रों का नाम मोतीचंद्र, लक्ष्मीचंद्र तथा नारायण-चंद्र और द्वितीय के पुत्रों का नाम कुमुदचंद्र और मोहनचंद्र है।

भारतेन्दुजी की धर्मपत्नी श्रीमती मन्नोदेवी का आषाढ़ कृष्ण ७ सं० १९८३ वि० (सन् १९२६ ई०) को, बयालीस वर्ष तक वैधव्य भोगकर गंगा-लाभ हुआ था। इनका अपने भ्रातृ-पुत्रों पर बहुत ही स्नेह था।

चंद्र में कलंक

जीवनचरित्रों ही से मनुष्य का सबसे अधिक मनोरंजन होता है। उपन्यास, नाटक आदि भी कल्पित मनुष्यों की जीवनियाँ ही हैं। उत्तम जीवनी कभी भी समय के पीछे नहीं पड़ सकती। किसी महान् पुरुष की जीवनी से यही उपदेश प्रधानतः मिलता है कि मनुष्य क्या हो सकता है, कहाँ तक ऊँचा उठ सकता है और मानव समाज के लिये वह कहाँ तक हितकर हो सकता है। इनको पढ़ने से हमें उत्साह मिलता है, हमारा

साहस बढ़ता है। महान् व्यक्तियों से, जो अब नहीं रह गए हैं या वर्त्तमान हैं, हम बराबर नहीं मिल सकते पर उनकी सच्ची जीवनी यदि हमारे पास है तो हम सर्वदा उनसे सत्संग रख सकते हैं। पर मनुष्य तभी मनुष्य रहेगा जब उसके दोष आदि भी प्रकट कर दिए जायँगे। मनुष्य देवता नहीं है, उसमें दोष रहेंगे, किसी में एक है तो किसी में कुछ और है। यदि एक महात्मा की जीवनी से हम दोषों को निकाल देते हैं तो हम ऐसा निर्दोष आदर्श उपस्थित कर देते हैं जिसका अनुगमन करने का लोग साहस छोड़ बैठेंगे। उसे मनुष्योपरि या दैवी समझेंगे, जिससे जीवनी-लेखक का परिश्रम निष्फल सा हो जाता है। तात्पर्य इतना ही है कि जीवनचरित्र में गुणों का विवेचन करते हुए दोषों का भी, यदि हों, तो विश्लेषण अवश्य कर देना चाहिए। सत्यं कटु होता है और नीति भी कहती है कि 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' पर सच्चे हृदय से मृत महात्माओं के विशिष्ट दोषों का उल्लेख अवश्य होना ही चाहिए।

साधारणतः कवि सौंदर्योपासक होता है। सौंदर्य से केवल स्त्री-सुलभ सौंदर्य ही से नहीं तात्पर्य है। गुलाब में सौंदर्य है तो उसकी नई डाल के नये निकले हुए प्याजी रङ्ग के काँटों में भी कुछ न कुछ सौंदर्य रहता है। बड़ों के गुण तथा दोष दोनों ही में कुछ न कुछ सार होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे भक्त श्रेष्ठ को भी इसी सौंदर्योपासना ही से भक्ति की दीक्षा मिली थी। भारततेन्दु जी 'घर के शुभचिंतकों' के कारण घर से ऊब उठे थे अतः आरम्भ में यह परकीया नायिकाओं के फेर में कुछ दिन पड़ अपने चित्त को सान्त्वना देते रहे पर कुछ ही दिन बाद इन्होंने अपने को सँभाला और श्रीकृष्ण भगवान के रङ्ग में ऐसे रङ्ग गए कि अंत समय तक 'श्रीकृष्ण साहित स्वामिनी'

कहते रह गये। इनकी प्रवृत्ति कुछ साधुओं की-सी थी। धन के विषय में यह कथन बिल्कुल ही ठीक है। कभी दस बीस हजार आ गया तो दोनों हाथों से लुटा दिया और यह चिंता नहीं रहती थी कि कल चिट्ठियों के लिये दो रुपये किसी से उधार लेने पड़ेंगे। संचयन की बुद्धि इनमें बिल्कुल थी ही नहीं। शरीर पर के कपड़े तक दूसरों को देकर स्वयं ठंढे में बैठे रह जाना साधु ही का काम था। वेश्या का सहवास इनके लिये आवश्यक ही था। आज इस बहाने तो कल उस बहाने जलसे होते रहते थे। गुणी गायिका अपना गुण अवश्य दिखाएगी तथा गुण-ग्राही पुरुष उसकी प्रशंसा करेगा ही। इस प्रकार वार्तालाप होते हुए आपस में परिचय होना अनिवार्य था। 'अंधेर नगरी' में उस समय की प्रसिद्ध गानेवाली कई वेश्याओं के नाम दिए गए हैं। ये सभी भारतेन्दु जी के दरबार में आती-जाती थीं। इन्हीं में से किसी के हाव-भाव पर भारतेन्दु जी को कोई नई उक्ति सूझी थी, जिस पर कविता बनाकर उपस्थित सज्जनों को सुनाते हुए उन्होंने कहा था कि 'हम इन सबों का सहवास विशेष कर इसीलिये करते हैं। कहिए! यह सच्चा मज़मून कैसे हो सकता था।' भाव उनका यही था कि वे उन सब में लिप्त नहीं थे।

एक बार संध्या के अनतर रामकटोरे के बाग में भारतेन्दु जी बैठे हुए थे, उनके पास ही माधवी तथा एक और सज्जन बैठे थे। कुछ ही देर बातचीत करने के बाद भारतेन्दु जी उठ कर बाग में चले गए और देर तक न लौटे तब उक्त सज्जन माधवी के कहने पर उन्हें ढूँढने गये। वह स्वयं कहते थे कि 'उन्होंने बा० हरिश्चन्द्र को बाग के एक कोने में एक वृक्ष की डाल पकड़े हुए चन्द्रमा की ओर देखते हुए देखा और यह भी देखा कि उनकी आँखों से अविरल आँसू टपक रहे हैं तथा वे कुछ मंद अलाप रहे थे। कुछ देर के अनन्तर वे स्वस्थ होकर

पुनः अपनी जगह पर आकर बैठ गये।'

पं० ईश्वरचन्द्र चौधरी प्रसिद्ध होमियोपैथिक डाक्टर थे। एक बार भारतेन्दु जी की स्वर्गीय धर्मपत्नी को दवा हो रही थी। होमियोपैथी के अनुसार रोगी की चिंता आदि मानसिक विकारों से भी निदान किया जाता है इसलिए इन्होंने मेरी मातामही को चिंताग्रस्ता पाकर उसका कारण पूछा जिससे मालूम हुआ कि उनके प्रति पति की जो उदासीनता है उसी से वह चिंतित रहती है। चौधरी महाशय ने भारतेन्दु जी से सम्मुख बात करना उचित न समझ कर उन्हें इस विषय पर एक पत्र लिखा था जिसका लम्बा उत्तर भारतेन्दु जी ने बंगला भाषा में (पर हिंदी लिपि में) लिखकर भेजा था। उस पत्र का आशय यही था कि वे अपनी स्त्री को किसी प्रकार का किंचित भी कष्ट नहीं देते और वह घर पर सब प्रकार से आराम से रहती हैं पर वे स्वयं अपने मन के अधिकारी नहीं हैं, उनका मन घर पर नहीं लगता, इसलिये वह लाचार हैं। माधवी हिंदू थी पर वह मुसलमान हो गई थी। वह ऋण लेने देने के लिये भारतेन्दु जी के गृह पर उनके भाई के पास आती थी और इस प्रकार इनका परिचय हो गया होगा। माधवी के हिन्दू से मुसलमान हो जाने के कारण उसमें कुछ विशेषता आ गई थी और अंत में भारतेन्दु जी ने उसकी शुद्धि करके उसे ग्रहण कर लिया। उस समय भारतेन्दु जी की अवस्था तेईस चौबीस वर्ष की थी और वे घर के लिये त्याज्य से हो रहे थे। ऐसी दशा में इस प्रकार के प्रणय हृदय की सांत्वना के लिये अनायास हो जाते हैं। भारतेन्दु जी ने इसके लिये एक मकान क्रय कर दिया था और उसमें एक ठाकुर जी भी स्थापित किये गये थे तथा कुछ उत्सव मनाये जाते थे। यहाँ वे प्रायः रात्रि व्यतीत करते थे। चित्त विनोदनार्थ क्रय की वस्तुओं का भी अच्छा संग्रह हो गया था, जिसमें हाथीदाँत

ए बने हुये चित्रों का एलबम भी था। भारतेन्दु जी की मृत्यु पर यह सब सामान घर चला आया और माधवी के व्यय के लिये दस रुपया मासिक नियत कर दिया गया। यह भी उनकी मृत्यु के बाद बंद हो गया, जिससे वह मकान बेचकर कहीं चली गई।

मल्लिका नाम की एक बंगदेशीय कुलीन विधवा स्त्री खदेरूमल की गली में आकर बस गई थी। चौखंबा वाले मकान के पश्चिम की ओर सटा हुआ जो दूसरा मकान है, उसके ठीक पीछे यह गली है। यह गली इतनी सकरी है कि उसके दोनों ओर के मकान ऊपर से एक से मालूम देते हैं और लड़के तब एक पर से दूसरे पर सुगमता से जाते आते हैं। इन्हीं में एक ने इनकी उस पड़ोसिन से जान पहचान करा दी। वह इनकी आश्रिता हो गई। यह अत्यंत नम्र, विनयशील तथा सुचरित्र थी पर भाग्य के दोष से वह उस अवस्था को पहुँच गई थी। यह शिक्षिता भी थी और भारतेन्दु जी के समागम से उसने हिन्दी भी अच्छी तरह सीख ली। बंगला में 'चन्द्रिका' उपनाम से इसने बहुत से पद बनाये हैं और हिन्दी में बंगला से तीन उपन्यासों का अनुवाद भी किया है। इनके नाम 'राधारानी', 'सौन्दर्यमयी' और 'चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकाश' है।

भारतेन्दु जी को स्वयं अर्थसंकोच रहता था इसलिये इसके कालयापन के लिये इन्होंने अपनी प्रकाशित पुस्तकों का कुछ स्टाक इसे दे दिया था, जिसकी बिक्री से इसका काम चलता था। इसके कार्यालय का नाम 'मल्लिकचन्द्र एंड कम्पनी' रखा गया था और भारतेन्दु जी की मृत्यु के बहुत दिनों बाद तक यह कार्यालय रहा।

मित्रगण

किसी असाधारण पुरुष की जीवनी में उसके मित्रों का भी परिचय देना आवश्यक होता है, पर इससे यह तात्पर्य नहीं कि

उसकी प्रकृति उन मित्रों के कारण परिवर्तित हुई होगी प्रत्युत् इसके विपरीत यही ज्ञात होगा कि जो कोई उसका साथ करता था वह भी उसी के रंग में रंग जाता था। यही बात भारतेन्दु-मंडल पर भी घटित होती है, जैसे प्रेमघन जी आदि की जीवनी से ज्ञात होगा। चन्द्र की ज्योत्स्ना में नक्षत्रगण का प्रकाश आप ही और भी खिल उठता है। भारतेन्दु जी के मित्रों की संख्या भी बहुत थी, कारण कि जो लोग इन्हें हानि पहुँचाते थे या इनसे द्वेष रखते थे, उन्हें भी वे अपना मित्र ही समझते थे। इसीसे इनके मित्रगण ने इन्हें 'अजातशत्रु' तक कहा है।*

भरतपुर-नरेश बालक बलवन्तसिंह को गद्दी से हटाकर दुर्जनसाल ने उस पर अधिकार कर लिया पर भारत-सरकार ने सेना भेज कर बलवन्तसिंह को गद्दी दिला दी। दुर्जनसाल प्रयाग में रहने के लिए भेज दिए गये। इन्हीं के वंशज राव कृष्णदेव शरणसिंह 'गोप' उपनाम से कविता करते थे। काशी बॉड्‌स स्कूल में इन दोनों मित्रों का समागम हुआ और यह गाढ़ी मित्रता अंत तक एकरस रही। इन्होंने चन्द्रावली नाटिका का ब्रजभाषा में रूपांतर किया था। इनके 'प्रेम संदेशा' में सोलह पद आसावरी और सोलह पद सारंग राग के हैं। 'मानचरित्र' छोटी सी रचना है जिसमें पद्य ही अधिक हैं। इसमें भारतेन्दु जी का भी एक पद इन्होंने रखा है। चन्द्रिका में एक दोहावार्ता भी प्रकाशित हुई है, जिसमें पैंतीस दोहे हैं। माधुरी रूपक भी इन्हीं की कृति है।

बॉड्‌स स्कूल के इनके मित्रों में बस्ती के राजा महेश्वर सिंह भी थे और वे भी कुछ कविता विशेषतः ठुमरियाँ बना लिया

---

* भारतेन्दु जी के मित्रों के संबंध में अधिक जानने के लिए लेखक लिखित 'भारतेन्दु-मंडल' देखिए।

करते थे। सरयूपार की यात्रा के विवरण में भारतेन्दु जी ने इनके स्थान का भी उल्लेख किया है।

जबलपुर के गढ़ा परगने के ताल्लुक़ेदार राजा अमानसिंह गोटिया भी यहीं पढ़ने आये थे और छः वर्ष तक विद्याध्ययन कर सन् १८८० ई० में अपने राज्य को लौट गये थे। इनकी एक रचना 'मदन मंजरी नाटक' है जिसे अपने मित्र की नाटक रचनाओं को देखकर इन्होंने निर्माण किया था। यह तथा राजकुमार जगमोहनसिंह दोनों ही नाटक खेलने में भारतेन्दु जी के साथ पार्ट भी लेते थे।

विजयराघव गढ़ के राजकुमार ठा० जगमोहन सिंह कछवाहे क्षत्रिय थे। यह सन् १८६६ ई० में विद्याध्ययन के लिए काशी आए और सन् १८८० ई० तक यहीं रहे। इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी आदि कई भाषायें सीखीं। भारतेन्दु जी से इनसे बहुत स्नेह हो गया और यह उनके सत्संग से मातृभाषा की सेवा में दत्त-चित्त हो गए। इनकी प्रकृति भारतेन्दु जी से कुछ मिलती-जुलती सी थी। कालिदास के छोटे काव्यों का इन्होंने भी अनुवाद किया है। इन्होंने गद्य पद्य दोनों ही लिखे हैं। एक प्रेम रस में और दूसरा माधुर्य में डूबा हुआ है। इनका प्रकृति पर विशेष प्रेम था और इस कारण इनके गद्य काव्य में प्राकृतिक शोभा का वर्णन बहुत अच्छा हुआ है। इन लोगों के सिवा सूर्यपुराधीश राजराजेश्वर सिंह, बड़हर के राजा केशवशरण सिंह साह, छपरा के बाबू देवीप्रसाद 'मसरक' आदि भी भारतेन्दु जी के सहपाठी थे।

मिर्ज़ापुर निवासी पं० बद्रीनारायण उपाध्याय चौधरी (प्रेमघन) जी भारतेन्दु जी के अन्तरङ्ग मित्रों में से थे। इस मित्रता का आरम्भ सं० १९२९ वि० में हुआ था और इसका अंत तक पूरा निर्वाह हुआ। यह पहिले उर्दू के प्रेमी तथा

लेखक थे पर भारतेन्दु जी से परिचय होने पर यह मातृभाषा के अनन्य उपासक हो उठे। इनके लेख कविवचन-सुधा में छपने लगे। इन्होंने स्वयं आनन्दकादम्बिनी मासिक पत्र तथा नागरी-नीरद नामक साप्ताहिक प्रकाशित किया। प्रेमघन जी अपने लेखों में लम्बे-लम्बे वाक्यों में पेचीले मज़मून बाँधते थे। इन्होने भारत सौभाग्य नाटक, हार्दिक हर्षादर्श आदि कई पुस्तकें लिखीं। समालोचना का इन्होंने एक प्रकार हिन्दी में आरम्भ कर बा० गदाधरसिंह की वङ्गविजेता तथा लाला श्री निवासदास के संयोगिता स्वयंवर नाटक की कठिन आलोचनाएँ लिखी थीं। यह भी अभिनय करने में भारतेन्दु जी का साथ देते थे।

पं० बालकृष्ण भट्ट जब कलकत्ते से लौट आए तब भारतेन्दु जी की पुस्तकें तथा कविवचन-सुधा पढ़ने से इनमें हिन्दी साहित्य-सेवा की लगन उत्पन्न हो गई। इन्होंने कविवचन-सुधा, काशी पत्रिका और विहारबन्धु में लेख देना आरम्भ किया। प्रयाग के कुछ विद्यार्थियों ने हिन्दी-वर्द्धिनी सभा स्थापित की। भारतेन्दु जी ने इसके मेंबरों के आग्रह से वहाँ जाकर एक व्याख्यान दिया और स्वयं उसके सभ्य हो गये। इसी सभा द्वारा निकाले गए एक प्रसिद्ध पत्र का आप ही ने 'हिन्दी प्रदीप' नामकरण किया और उसका शीर्ष पद (मौटो) भी स्वयं बना दिया था। भट्ट जी उस पत्र के संपादक थे और अपने को बा० हरिश्चन्द्र जी का अनुयायी कहते थे तथा उन्हीं की सी शुद्ध हिन्दी लिखने के प्रेमी थे। भारतेन्दु जी को भट्ट जी बहुत सन्मान की दृष्टि से देखते थे और वे भी कहा करते थे कि हमारे बाद दूसरा नम्बर भट्ट जी का है।

पं० प्रतापनरायण मिश्र में हिन्दी-प्रेम भारतेन्दु जी की कवि-वचन-सुधा के लेखों के पढ़ने से अंकुरित हुआ था। यह लेखन-कला में भारतेन्दु जी को अपना आदर्श मानते थे और उन

पर इनकी अपूर्व भक्ति थी। जबसे बाबू साहब ने इनकी प्रेम पुष्पावली की प्रशंसा कर इनका उत्साह-वर्द्धन किया तबसे यह उन्हें बहुत मानने लगे। यह भारतेन्दु जी का बहुत कुछ कीर्तन करते तथा उन्हें आराध्यदेव मानते और पूज्यपाद तक लिखते थे। उनकी मृत्यु पर 'शोकाश्रु' नामक कविता लिखी थी। बीमारी से भारतेन्दु जी के अच्छे होने पर इन्होंने तीस शेरों का एक कसीदा कहा था।

लाला श्री निवासदास मथुरा के रहने वाले थे पर दिल्ली में सेठ लक्ष्मीचंद की कोठी के मुनीम होकर वहीं रहते थे। इन्होंने हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। यह बड़े व्यवहार कुशल थे। यह भी छोटी ही अवस्था में मरे पर इसी बीच इन्होंने तप्ता-संवरण, संयोगिता-स्वयंवर तथा रणधीर-प्रेम-मोहिनी नामक तीन नाटक और परीक्षागुरु उपन्यास लिखा है। यह मुहाविरेदार बोलचाल की भाषा लिखते थे। इनकी प्रथम रचना एक और थी, जो प्रह्लाद महानाटक नाम से प्रकाशित हुई थी। यह भारतेन्दु जी ही के समान शीलवान थे पर व्यवहार-दक्ष होने से इनकी रचनाओं में भी उसकी पूरी छाप है। भाषा बहुत संयत और बोल-चाल की है।

हिन्दी-हित साधन में अलीगढ़ निवासी बा० तोताराम ने भी भारतेन्दु जी का साथ दिया था। ये कायस्थ थे और इन्होंने बी० ए० तक पढ़कर कॉलेज छोड़ दिया था। पहिले यह फतह-गढ़ स्कूल के हेडमास्टर हुए और फिर काशी चले आए। यहाँ भारतेन्दु जी के सत्सङ्ग के कारण इनका हिन्दी प्रेम बहुत बढ़ा। इनका पहिला नाटक 'कीर्ति-केतु' है। इसके अतिरिक्त केटो कृतांत, स्त्री सुबोधिनी, ब्रजयात्रा आदि पुस्तकें लिखीं। अलीगढ़ में एक भाषा संवर्द्धिनी-सभा तथा लायल लाइब्रेरी स्थापित करने

में प्रधान रहे। 'भारतबन्धु' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी यह निकालते थे।

गोस्वामी पं० राधाचरण जी में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के लेख पढ़ कर मातृभाषा तथा देश के प्रति अनुराग और समाज सुधार का भाव पैदा हुआ था।

सं० १९३२ वि० में इन्होंने कवि-कुल-कौमुदी नामक एक सभा स्थापित की थी। इनमें ब्राह्म-धर्म की ओर रुचि हो चली थी और वे उस धर्म के पक्ष में लेख भी लिखने लगे थे। परन्तु भारतेन्दु जी के पत्र-द्वारा इस विषय पर कटाक्ष करने से यह उस धर्म की ओर से विमुख हो गए। यह भारतेन्दु जी को 'दिव्य भगवद्विभूति' मानते थे और साहित्य क्षेत्र में इन्हें अपना गुरु स्वीकार किया है। भारतेन्दु जी भी अपने पत्रों में इन्हें बड़ आदर से साष्टांग दंडवत प्रणाम आदि लिखते थे।

भारतेन्दुपत्र गोस्वामी जी भारतेंदु वृन्दावन से प्रकाशित करते थे। इन्होंने बहुत सी पुस्तकें और लेख लिखे हैं।

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या शिक्षा पाने के लिए काशी आए थे। इनके पिता भारतेन्दु जी की कोठी में आया जाया करते थे और उनके साथ यह भी कभी-कभी आते थे। समवयस्क होने से कुछ ही दिनों में आपस में मित्रता हो गई और यह बराबर उनके यहाँ रहने लगे। पंड्या जी कहते थे कि हिन्दी भाषा के विद्वान तथा रामायणी पं० बेचनराम जी प्रायः भारतेंदु जी के यहाँ आते थे और हम लोगों को हिन्दी भाषा के तत्त्व बतलाते थे। यह 'मोहन चन्द्रिका' नामक एक पत्र निकालना चाहते थे और इनके आग्रह पर भारतेन्दु जी ने जब अपनी पत्रिका उन्हें सौंप दी तब 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' सम्मिलित होकर निकलने लगी। इन्होंने पृथ्वीराजरासो के दो समय का संपादन किया था तथा उसको

असल सिद्ध करने के लिये 'रासो संरक्षा' हिन्दी और अंग्रेजी में लिखा था। यह हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही में कुछ कविता भी करते थे।

पं० दामोदर शास्त्री पूना से काशी आए और यहीं इनके पिता, माता, स्त्री तथा पुत्र सभी का कैलाशवास हो गया। यह जीविका रहित हो उसी समय गए। यह डेढ़ वर्ष तक इनके यहाँ रहे। यह बिहारबंधु के संपादक हुए पर वहाँ जब नहीं पटी तब पुनः भारतेन्दु जी के यहाँ लौट आए। यहाँ से पुष्कर होते श्रीनाथ जी गए और कई वर्ष वहीं सुख-पूर्वक व्यतीत किया। इन्होंने यात्रा खूब की थी और उस विषय की कई पुस्तकें भी लिखीं। विद्यार्थी पत्र भी संस्कृत में निकाला था जो बाद को मोहन चन्द्रिका में मिला लिया गया था। 'मैं वही हूँ' नामक चौंसठ पृष्ठ की पुस्तक में इन्होंने अपना वृत्तांत लिखा है। इन्होंने मराठी तथा हिन्दी में भी कुछ पद लिखे हैं। भारतेन्दु जी की सम्मति से इन्होंने काशी में एक नाटक मंडली खोली और कई नाटक तैयार किए थे।

पं० रामशंकर व्यास इनके अंतरङ्ग मित्रों में से थे। यह एक योग्य विद्वान तथा कार्यदक्ष पुरुष थे। यह हिन्दी के अच्छे लेखक तथा संस्कृत, फ़ारसी, बंगला और गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे। यह कुछ दिन कविवचन-सुधा के संपादक भी रहे और कई पत्रों में लेख दिया करते थे। यह स्वभाव ही से बड़े हास्य-प्रिय थे। भारतेन्दु जी के यहाँ इनका बराबर आना जाना था और उनके स्थापित सभी सभाओं के यह सभासद रहे। इन्होंने 'सारसुधानिधि' में बा० हरिश्चन्द्र जी को भारतेन्दु की पदवी प्रदान करने का प्रस्ताव किया था, जिसका हिन्दी जगत् ने बड़े आदर से समर्थन किया था। भारतेन्दु जी की मृत्यु पर इन्होंने 'चंद्रास्त' लिखा था, जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने

अंत तक मित्रता निबाही थी।

भारतेन्दु जी के पिता के सभासद तथा भारतेन्दु जी के शिक्षक पं० ईश्वरीप्रसाद जी तिवाड़ी के पुत्र पं० शीतलाप्रसाद जी त्रिपाठी प्रसिद्ध पंडित तथा संस्कृत कोलेज में साहित्य के प्रधान अध्यापक थे। इन्होंने जानकी-मंगल नाटक बनाया था। सावित्री चरित्र नामक एक पुस्तक भी गद्य-पद्यमय लिखी है। हिन्दी व्याकरण के यह अच्छे ज्ञाता थे। प्राचीन लिपियाँ पढ़ने में भी यह अधिक कुशल थे। भारतेन्दु जी ने यह विद्या इन्हीं के सत्संग से सीखी थी और इन्हें साथ लेकर पाँच-छः मास में काशी के मंदिरों, घाटों आदि के लेख पढ़े और संग्रह किये थे।

मिस्टर फ्रेडरिक पिन्कोट का जन्म सन् १८३६ ई० में हुआ था। इन्होंने भारतीय भाषाओं में सबसे पहिले संस्कृत बाद में उर्दू, गुजराती, बँगला, तामिल, तैलंगी, मलयालम और कनाडी भाषाओं के सीखने पर हिन्दी का अध्ययन किया था पर इसकी ओर इनका ऐसा अनुराग बढ़ा कि वे इस भाषा के पाठक, लेखक तथा कवि तक हो गए। इनकी मृत्यु, फरवरी सन् १८९८ ई० में हुई। यह उत्तम हिन्दी पुस्तकों की समालोचना अंग्रेजी पत्रों में देते थे। भारतेन्दु जी से इनका बहुत स्नेह था और उनसे बराबर पत्र-व्यवहार रहा करता था। इन्होंने भारतेन्दु जी की प्रशंसा में छंद बना कर उनके पास भेजा था।

निज़ामाबाद (आजमगढ़) निवासी तथा सिक्ख सम्प्रदाय के तीसरे गुरु के वंशज बाबा सुमेरसिंह साहिबज़ादे काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। और धर्म के तत्वों के भी अच्छे ज्ञाता थे। यह सन् १९०३ ई० में स्वर्गवासी हुए। भारतेन्दु जी से इनसे घनी मित्रता थी। मिलने पर इन दोनों सज्जनों में धर्म तथा काव्य पर ही विशेष वार्तालाप होता था। भारतेन्दु जी

स्वभावानुसार अपनी प्रायः सभी रचनाएँ इनके पास भेजते थे और उन्हें पढ़कर उधर वाले कितने सज्जन हिन्दी प्रेमी हो गए।

मुंशी ज्वालाप्रसाद वकील भी इनके घनिष्ठ मित्रों में से थे। भारतेन्दु जी कभी-कभी इनके यहाँ सुबह जाया करते थे और प्रायः दिन भर व्यतीत कर शाम को घर लौटते थे। लाला साहब यद्यपि नामी वकील थे और मुवक्किल उन्हें घेरे रहते थे पर इनके पहुँचने पर वे सब काम छोड़कर इन्हीं से बातचीत करने में लग जाते थे। यहाँ तक कि वे कचहरी भी न जाते थे। इन्हीं मुंशी जी ने स्यात 'कलिराज की सभा' लिखी थी।

इनके अग्रवाल मित्रों में बा० बालश्वर प्रसाद बी० ए०, बा० जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' बी० ए० के पिता बा० पुरुषोत्तमदास, बा० केशोराम, बा० माधोदास जी आदि प्रधान थे। इन मित्रों की गोष्ठी प्रायः बा० बालेश्वर प्रसाद के निवासस्थान नार्मल स्कूल में या बा० केशोराम के दुर्गाकुंड-स्थित बाग़ में हुआ करती थी। ये लोग प्रायः समवयस्क थे और इस प्रकार की बैठकों में इन लोगों में आपस में ख़ूब हँसी-मज़ाक होता था।

बा० राधाकृष्णदास जी भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई और सदा साथ रहनेवालों में से थे। सन् १८६५ ई० में इनका जन्म हुआ। दूसरे ही वर्ष इनके पिता की मृत्यु हो गई और यह अपनी माता के साथ भारतेन्दु जी के गृह ही में रहने लगे। भारतेन्दु जी का इनपर वात्सल्य स्नेह था और वह इन्हें बच्चा कह कर पुकारते थे, जिससे इनका दूसरा नाम ही 'बच्चा बाबू' हो गया था। इन्हें शिक्षा देने का भारतेन्दु जी स्वयं ध्यान रखते थे।

भारतेन्दु जी के सत्संग से इनमें हिन्दी-प्रेम जागृत हुआ और उनकी रुचि के अनुकूल ही इनमें भी इतिहास, नाटक, साहित्य आदि के प्रति विशेष प्रेम हो गया। बा० हरिश्चन्द्र के

सुयश-सौरभ के प्रसार का इनको बड़ा ध्यान रहता था। वास्तव में यदि ये उदय काल ही से वायु के समान चंचल होकर समय समय पर भ्रमरूपी मेघों को न छाँटते रहते तो भारतेन्दु की शीतल किरणें बहुतेरे अंधकारमग्न हृदयों में न पहुँचतीं।'

रचनाएँ

नाटक

हिन्दी-नाट्य साहित्य का एक प्रकार अभाव देखकर ही भारतेन्दु जी ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था और प्रायः इनकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ इनके नाटक ही हैं। हिन्दी में इनके समय तक देवकृत देवमाया प्रपच, नेवाज का शकुन्तला-नाटक, हृदयराम का हनुमन्नाटक, ब्रजबासी दासकृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक आदि लिखे जा चुके थे पर उनका नाममात्र ही नाटक था। प्रभावती, प्रद्युम्न-विजय और आनंदरघुनन्दन किसी प्रकार नाटक कहे भी जा सकते हैं। भारतेन्दु जी के पिता का नहुष नाटक अधूरा प्राप्त है और ब्रजभाषा मिश्रित है। राजा लक्ष्मण सिंह-कृत शकुन्तला नाटक अनुवाद मात्र है।* इस प्रकार भारतेन्दु जी की मौलिकता तथा अनुवादित रचनाओं ही से हिंदी नाट्य-साहित्य का वास्तविक आरंभ कहा जा सकता है। इन्होंने लगभग डेढ़ दर्जन के मौलिक और अनुवादित नाटक लिखे, जिनमें कई खेले भी जा चुके हैं।

सं० १९२५ वि० के आरम्भ में भारतेन्दु जी ने 'प्रवास नाटक' लिखना प्रारम्भ किया पर वह कुछ ही लिखा जाकर रह गया और वह अब नहीं मिलता। इनके अनंतर 'शकुन्तला'

---

* नाटकों के संबंध में विशेष जानने के लिए लेखक लिखित 'हिंदी-नाट्यसाहित्य' देखिए।

के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है, इस हेतु मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है। यह नाटिका सुप्रसिद्ध कवि श्री हर्षकृत है। इस नाटिका की प्रस्तावना तथा विष्कंभक ही का केवल अनुवाद मिलता है और इसके बाद का कुछ भी अंश प्राप्त नहीं है।

इसी वर्ष भारतेन्दु जी ने विद्यासुन्दर नाटक की रचना की। इसका मूल संस्कृत का विद्यासुन्दर तथा चौरपंचाशिका है, जिसका रचयिता स्यात् यही सुन्दर है। इस काव्य की राजकुमारी का नाम भी विद्या ही है। इसी के आधार पर बंगला भाषा में रामप्रसाद सेन तथा भारतचन्द्र राय गुणाकर ने दो काव्य तथा महाराज जोगेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नाटक निर्मित किया था। गुणाकर के काव्य के आधार पर हिन्दी में भारतेन्दु जी ने इस नाटक को लिखा था। भारतेन्दु जी कृत 'विद्यासुन्दर' तीन अंक में विभाजित एक छोटा सा नाटक है। यह कृति साधारणतः अच्छी है। पद्य दस ही बारह दिए गए हैं पर अच्छे हैं। भाषा अति सरल है। इसकी एक सवैया यहाँ उद्धृत की जाती है, जिसकी सरल भाषा में कही गई सरल बातें हृदय पर कैसा असर डालती हैं।

> धिक है यह देह औ गेह सखी जेहि के बस नेह को टूटनो है।
> उन प्रान पियारे बिना यह जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है॥
> 'हरिचंद जू' बात ठनी सो ठनी नित की कलकानि ते छूठनो है।
> तजि और उपाय अनेक सखी अब तो हम को विष घूटनो है॥

सं० १९२९ वि० में कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के तीसरे अंक का 'पाखंड-विडम्बन' के नाम से अनुवाद हुआ। यह छोटी सी गद्य-पद्यमय रचना है। इसमें इन्द्रिय-जनित सुख के लोभ से किस प्रकार लोग सात्विक श्रद्धा से विमुख हो जाते

है यही दिखलाया गया है। इस नाटक में बौद्ध, जैन तथा कापालिक का वर्णन है, पर यह किसी धार्मिक विद्वेष से नहीं अनूदित हुआ है। इसका उल्लेख कवि ने समर्पण में कर दिया है, जो उसी वर्ष के फाल्गुन शुक्ल १४ को लिखा था। इसकी भाषा विद्यासुन्दर से अधिक प्रौढ़ है और कविता भी अच्छी है। नाटक के अंत में दिखलाया गया है कि सात्विक श्रद्धा—

नहिं जल थल पाताल में गिरिवरहू में नाहिं।
कृष्ण-भक्ति के संग वह बसत साधु-चित माहिं॥

सं० १६३० वि० में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन रचा गया। इसमें चार अंक हैं और शुद्ध कवि-कल्पना-प्रसूत है। पहिले अंक में मांस-भक्षण तथा विवाह का समर्थन कराया गया है। दूसरे अंक में वेदांती, शैव और वैष्णव आते हैं और पाखंडियों के तर्क से उकताकर चले जाते हैं। तीसरे में मांस-भक्षण और मदिरापायियों द्वारा पुनः वैदिकी-हिंसा का धर्मानुमोदित होना पुष्ट कराया गया है। इसके लिए शास्त्रों के बहुत से उद्धरण भी दिए गए हैं। चौथे अंक में यमराज द्वारा इन हिंसकों को दंड दिलाया गया है। इस प्रहसन में भारतेन्दु जी ने मतमतांतर होने के कारण तत्कालीन अनेक विद्वानों और प्रसिद्ध पुरुषों पर आक्षेप करते हुए उनकी इस नए हास्य पूर्ण चाल से समालोचना की है।

यह प्रहसन जिस उद्देश्य से लिखा गया है, उसे वह पूर्णरूप से चरितार्थ कर रहा है। प्रत्येक पात्र का उपयुक्त चित्रण भी हुआ है और भाषा सरल तथा बोलचाल की रखी गई है।

इसी वर्ष के अंत में कवि कांचन कृत 'धनंजय-विजय' व्यायोग का अनुवाद पूरा हुआ। इस व्यायोग में पद्य भाग अधिक है। इसकी कथा इतनी ही है कि पांडवों के राजा विराट की सभा में अज्ञातवास करने के अन्तिम दिन कौरवों ने उक्त

राजा का गोधन हरण कर लिया और अकेले अर्जुन उन सब को परास्त कर गायों को लौटा लाए। अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है। पद्य में दोहे अधिक हैं। सन् १८७३ ई० में यह पहिले पहिल हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में छपा था।

सं० १९३२ वि० में भारतेन्दु जी ने 'प्रेम-योगिनी' नामक नाटिका लिखना आरंभ किया था पर इसके केवल चार गर्भांक ही लिखे गए और यह ग्रंथ अपूर्ण रह गया। इन चार दृश्यों में काशी की वास्तविक दशा ही का वर्णन किया गया है और आज भी कुछ कमी-वेशी के साथ ठीक वही दशा दिखला रही है। इस प्रकार के अनेक दृश्य दिखलाए जाने योग्य बच गए थे पर स्यात् स्वतः या किसी के दबाव में पड़कर वे चित्रित नहीं किए गए। भारतेन्दु जी ने कुछ "आप बीती" का भी इसमें वर्णन किया है और यदि यह ग्रंथ पूर्ण हो जाता तो कवि के मानसिक कष्ट तथा सुख पर विशेष प्रकाश पड़ता। यह चार अंक ही इनकी निरीक्षण तथा व्यक्तीकरण शक्ति का उत्कृष्ट नमूना है। इसके प्रथम दो गर्भांक 'काशी के छाया-चित्र' या दो भले-बुरे 'फोटोग्राफ' के नाम से एक बार पहिले प्रकाशित हुए थे।

'सत्यहरिश्चन्द्र' भारतेन्दु जी की सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचना कही जाती है। क्षेमीश्वर का चंडकौशिक तथा रामचन्द्र का सत्यहरिश्चन्द्रम् और इस सत्यहरिश्चन्द्र तीनों ही का मूल आधार एक ही पौराणिक कथा है पर सभी रचनाएँ एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। चंडकौशिक से अवश्य कुछ श्लोक इसमें उद्धृत हैं पर और सब कुछ भारतेन्दु जी की निज की कल्पना है। स्वप्न में दान की हुई वस्तु को जागृत होने पर सत्य मान कर दे देना अयोध्या-नरेश क्षत्रिय वीर महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्यप्रतिज्ञ होने की पराकाष्ठा है तथा सत्य-प्रतिज्ञ कवि के योग्य है। साधारण पुरुष के ध्यान में यह बात नहीं आ सकती और वे

इसे केवल राजा हरिश्चन्द्र के मस्तिष्क का विकार मात्र समझेंगे, पर है यह आदर्श बहुत ऊँचा। विश्वामित्र के आने पर समग्र पृथ्वी उन्हें सौंपना तथा दक्षिणा के लिए पुत्र-कलत्र के साथ काशी में बिकने जाना, उनके सत्य विचारों का ध्रुव सत्य होना दिखलाता है। काशी तथा गंगा का वर्णन करते हुए वहीं स्त्री-पुरुष का बिक कर दक्षिणा चुकाना और अपने कामों को, जो उनके योग्य कभी भी न थे, सत्यप्रतिज्ञ होने ही के कारण निबाहना उनके चरित्र तथा आत्मबल को उज्ज्वलतर करता है। ऐसे कष्टमय समय में पुत्र के सर्प-दंशन से मृत्यु का होना, शव को लेकर रानी शैव्या का स्मशान पहुँचना और राजा हरिश्चन्द्र के अपना धर्म समझकर पुत्र के अधखुले शव के आधे कफ़न के माँगने पर उसे देने को उद्यत होना इन पति-पत्नी के सत्यविचार का कठोरतम देवोपम परीक्षा में उत्तीर्ण होना है। यह आख्यानक ही करुणरस का स्रोत है और उस पर कुशल कवि के हाथ में पड़ने पर यह इस रस का अभूतपूर्व आदर्श हो गया है। मेरे विचार से संस्कृत के भी दोनों नाटक इसके पीछे पड़ गए हैं।

इस नाटक में 'बैर अकारण सब काहू सों' और "देखि न सकहि पराइ विभूती" के अच्छे जीते-जागते चित्र तैयार किए गए हैं। शैव्या का विलाप, कुछ लोगों की राय में, आवश्यकता से अधिक हैं पर यदि वे ही पुत्र-शोकग्रस्ता किसी स्त्री के विलाप को देखें तो यह स्यात् कम ही ज्ञात होगा। साथ ही शैव्या को रोते-रोते इतनी बातें भी तो अनजान में कह डालनी थी जिसमें राजा हरिश्चन्द्र अपनी स्त्री को न पहिचानते हुए उसे सुनकर ही सब वृत्त जान जाँय। जो कुछ हो यह विलाप अस्वाभाविक कभी नहीं होने पाया है।

इस नाटक में करुणा तथा वीर रस का सम्मिश्रण है। राजा हरिश्चन्द्र सत्यवीर हैं और आरम्भ से अंत तक हर प्रकार के

वर्ष का समय दिया। इस बीच बड़ौदा के रेजिडेन्ट कर्नल रौबर्ट फेयर को, जिन्होंने उस कुप्रबन्ध की गवर्नमेंट को सूचना दी थी, विष देने का प्रयत्न किया गया। सन् १८७५ ई० में गायकवाड़ कुप्रबन्ध के कारण गद्दी से उतारे गए और उनके स्थान पर सयाजीराव गद्दी पर बिठाए गए। इसी घटना पर उसी वर्ष 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण लिखा गया इसमें भंडाचार्य्य जी का व्याख्यान है, जो पठनीय है। स्वदेशी राज्यों के कर्णधार ही जब कभी प्रजा के साथ कुत्सित व्यवहार कर बैठते हैं और उनकी उस दुष्टता तथा नीचता का जब विदेशीय सरकार द्वारा उन्हें दंड मिलता है तब हृदय से सच्चे स्वदेशभक्त के जो उद्गार होंगे उसी का इसमें कुछ दिग्दर्शन हो जाता है।

सं० १९३३ वि० में श्री चन्द्रावली नाटिका की रचना हुई। यह नाटिका अनन्य प्रेम रस से सा‌वित है और भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचनाओं में से है। एक शुद्ध विष्कंभक देकर श्री शुकदेव जी तथा नारद जी से परम भक्तों के वार्तालाप द्वारा ब्रजभूमि के अनन्य प्रेम की सूचना दिलाकर यह नाटिका आरंभ की गई है। इसमें वीणा पर उत्प्रेक्षाओं की एक माला ही पिरो डाली गई है। पहिले अंक में चन्द्रावली जी तथा सखी के कथोपकथन से उसका श्री कृष्ण पर प्रेम प्रकट होना है। दूसरे अंक में श्रीचन्द्रावली जी अपना विरह वर्णन कर रही हैं और उपवन में कई सखियों से वार्तालाप भी होता है। विरहोन्माद में प्रिय के अन्वेषणार्थ जो प्रलाप कराया गया है। वह यदि अभिनय की दृष्टि से कुछ अधिक लंबा कहा जाय तो कह सकते हैं पर अस्वाभाविक रत्ती भर भी नहीं होने पाया है। कोई भी सहृदय उसे पढ़कर उकता नहीं सकता। तीसरे अंक का अंकावतार गुप्त पत्र भेजने का रहस्य बतलाता है। उसके अनंतर कई सखियों के साथ चन्द्रावली जी आती हैं और वार्तालाप करते

हुए कार्य साधन का उपाय निश्चित होता है। इसमें भी विरह-कातरा रमणी का कथन नीरसों के लिए आवश्यकता से अधिक हो गया है पर विरहणी को आवश्यक अनावश्यक समझने की बुद्धि नहीं रह जाती। महाकवि कालिदास ने भी लिखा है कि "कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु।'

इन अंकों में वर्षावर्णन आया है और उसका विरहणी के हृदय पर जो प्रभाव पड़ेगा वह पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। चौथे अंक में पहिले श्रीकृष्ण जी योगिन बनकर आते है और फिर ललिता तथा चन्द्रावली जी आती हैं। अन्त में युगल प्रेमियों का मिलन होता है। इसमे यमुनाजी की शोभा का नौ छप्पयों में उसी प्रकार अच्छा वर्णन हुआ है जिस प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र में गंगा का।

इस नाटिका की कविताएँ विशेष रूप से हृदय-ग्राहिणी हैं। मार्मिक बातें ऐसी सरलता-पूर्वक कह दी गई हैं कि हृदय पर चोट करती हैं। भाषा अत्यन्त मधुर और प्रौढ़ है। निस्पृह दैवी प्रेम का मनोमुग्धकारी उज्ज्वलतम सुन्दर जीता-जागता चित्र खड़ा कर दिया गया है। क्यों न हो, यह सच्चे प्रेमी भक्त के निज हृदय का प्रतिबिब है। इस नाटिका का संस्कृत अनुवाद पं० गोपाल शास्त्री ने किया था जो बहुत अच्छा है। भरतपुर के राव कृष्णदेव शरण सिंह ने इसका ब्रजभाषा में रूपान्तर किया है। भारतेन्दु जी इसका अभिनय कराया चाहते थे पर उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी।

'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु जी की निज कल्पना से सं० १९३३ वि० में प्रादुर्भूत हुआ था। यह छोटा-सा रूपक छः अंकों में विभक्त है। इसमें नाटककार ने भारत के प्राचीन गौरव का ओजस्विनी भाषा में वर्णन कर वर्तमान समय की दुरवस्था पर आँसू बहाए है। इसके पाठकों तथा दर्शकों पर इस दुःखांत रूपक

का स्थायी प्रभाव पड़ता है और केवल करुणारस में निमग्न होकर ही वे नहीं रह सकते। इसी नैराश्य में भारत की अवनति के मूल कारणों के उच्छेदन करने की ईप्सा उनमें जागृत हो जाती है। इसके कुछ पदों में देश की दुरवस्था पर जो कुछ कहा गया है वह ऐसा करुण है कि उन्हें पढ़कर स्वदेश प्रेमियों के मन उद्वेलित हो जाते हैं। क्यों न हों वे एक सच्चे देशभक्त के हृदय के रक्त से सिंचित हैं। आज पूरे अस्सी वर्ष बाद भी प्रायः वही अवस्था है। आज भी देश शिक्षा में और देशों से पिछड़ा ही है, आलस्य, दारिद्र्य, मदिरासक्ति आदि उसी प्रकार की है। स्वदेशी कपड़े की पुकार उसी समय इस रूपक के पाँचवें अंक में महाराष्ट्र पात्र के द्वारा इस प्रकार की गयी है 'कपड़ा बीनने की कल मँगानी, हिन्दुस्तानी कपड़ा पहिनना।' तात्पर्य यह कि भारतेन्दु जी ने इस रूपक में देश की दशा दिखलाने में पूर्ण सफलता पाई है और यह नाटक सभी देश-प्रेमियों के लिये पठनीय है।

नीलदेवी सन् १८८१ ई० के अंत में लिखी गई है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें एक क्षत्रिय राजा को सन्मुख युद्ध में परास्त न कर सकने पर मुसलमान सेनापति ने रात्रि-आक्रमण कर उसे कैद कर लिया था। मुसलमान होना अस्वीकार करने पर वह मार डाला गया। रानी नील देवी पति का बदला लेने को, शत्रु को प्रबल समझकर, षड्यंत्र रचती है और गणिका का छद्मवेश धारण कर, अवसर पाकर नहीं, प्रत्युत् अवसर बनाकर उस मुसलमान सेनापति को मार डालती है और पति के शव के साथ सती हो जाती है। इस नाटक में वीर तथा करुण-रस के साथ हास्य-रस का भी अच्छा समावेश हुआ है। कादरों की डींगें तथा पागल की बड़बड़ाहट पढ़कर हँसी बरबस आती है। वीरों की बातचीत सुनकर जिस प्रकार चित्त उत्तेजित

होता है, उसी प्रकार देवता का गाना सुनकर रुलाई आने लगती है। भाषा पात्रों के अनुकूल ही सर्वत्र रखी गई है। यह नाटक रंगमंच पर भी सफलतापूर्वक खेला जा चुका है और पठनीय है। इसमें देशहितैषिता का भाव भरा हुआ है और जिस आदर्श को लेकर इसकी रचना हुई उसकी इससे पूर्ण रूपेण सिद्धि होती है।

'अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा' प्रहसन की सं० १९३८ में रचना हुई। कहा जाता है कि विहार प्रांत के किसी जमींदार के अन्यायों को लक्ष्य करके उसे सुधारने के लिए तथा किसी स्थानिक 'नेशनल थिएटर' में अभिनीत किए जाने के लिए इसकी एक ही दिन में रचना हुई थी। इस कहानी को लेकर पहिले भी खेल होते थे पर वे इतने सुव्यवस्थित नहीं थे। इस प्रहसन की भाषा तथा पद्य साधारण हैं पर अनेक प्रकार के लोगों पर हँसी-हँसी में आक्षेप किया गया है। इस नाटक का उक्त सज्जन पर अच्छा प्रभाव पड़ा था।

संस्कृत के मुद्राराक्षस का अनुवाद सं० १९३१ के फाल्गुन मास की बालाबोधिनी की संख्या से छपना आरम्भ हुआ और प्रायः तीन वर्ष तक निकलता रहा। बाद को यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। यह नाटक राजनीतिक षड्यंत्रों से पूर्ण है। इसका प्रधान रस वीर है और कर्मवीरत्व के उपदेश से परिपूर्ण है। नाटक की कथा-वस्तु का आधार मौर्य साम्राज्य के संस्थापना के इतिहास से लिया गया है। इसका अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है। भाषा प्रौढ़ तथा प्रांजल है। अनुवादक ने इस पर विशेष समय तथा मन लगाया था और यह उनकी नाट्य-रचनाओं में सबसे बड़ी भी है। इसकी भूमिका लिखने में भी बहुत कुछ अनुसंधान किया गया है तथा देशीय और यूरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों से सहायता ली गई है। तात्पर्य यह कि यह

अनुवाद करके भारतेन्दु जी ने इस ग्रंथ की प्रसिद्धि द्विगुणित से भी अधिक कर दी है और यह चिरस्थायी ग्रंथ अब अमर हो गया है।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के मर्चेंट ऑव वेनिस का भारतेन्दु जी ने "दुर्लभ बंधु" (अर्थात् वंशपुर का महाजन) के नाम से अनुवाद किया था। सं० १८३७ वि० ज्येष्ठ शुक्ल की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका में इसका प्रथम दृश्य छपा है, जिसमें लिखा है कि "निजबंधु बा० बालेश्वरप्रसाद बी० ए० की सहायता से और बँगला पुस्तक सुरलता की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा।" यह अनुवाद अपूर्ण था, जिसे पण्डित रामशंकर व्यास तथा बा० राधाकृष्ण दास जी ने पूरा किया था। इस अनुवाद में यूरोपीय नामों को सुन्दर हिंदी रूप दिया गया है, जैसे ऐन्टोनिया का अनत, पोरशिया का पुरश्री आदि।

सती प्रताप गीतिरूपक सावित्री सत्यवान के पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। यह भी अपूर्ण रह गया था जिसे स्व० बा० राधाकृष्ण दास जी ने बाद को पूरा किया था। इसमें सात दृश्य हैं जिनमें चार भारतेन्दु जी के लिखे हैं और अंतिम तीन बाबू राधाकृष्ण दास जी के। यह उपाख्यान स्त्रियोपयोगी है और इसमें उन्हीं सावित्री का चरित्र चित्रण हुआ है, जिनका वे प्रतिवर्ष वट-सावित्री के दिन पूजन करती हैं। पहिले दृश्य में अप्सराएँ पातिव्रत्य की प्रशंसा करती हैं, दूसरे में सावित्री-सत्यवान का प्रथम मिलन होता है, तीसरे में सावित्री का प्रेम दिखलाया जाता है और चौथे में नारद जी के समझाने से सत्यवान के पिता द्युमत्सेन अपने पुत्र का सावित्री से विवाह करना स्वीकार करते हैं। इसमें मनसा पतिवरण कर लेने पर दूसरे से न विवाह करने का प्रण करके भी माता-पिता

की आज्ञा पर ही इच्छा पूर्ति को छोड़ देने ही ने सावित्री शब्द को सती का पर्यायवाची आज तक बना रखा है।

भारतजननी बँगला के भारतमाता के आधार पर लिखी गई है। यह पहिले-पहल सन् १८७७ ई० के हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका में प्रकाशित हुई थी। सन् १८७८ ई० के कवि-वचन-सुधा में एक विज्ञापन भारतेन्दु जी ने निकाला था, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसके अनुवादक उनके कोई मित्र थे और इसे उन्होंने शोधकर प्रकाशित किया है। संशोधन कार्य से भारतेन्दु जी ने इस रूपक को बहुत कुछ अपना कर लिया है और मूल तीसरे ही का है। इसलिए उक्त अनुवादक का नाम न ज्ञात होना ही समीचीन है। भारतेन्दु जी ने नाटकों के इतिहास तथा नाटक रचना पर भी एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम उन्होंने 'नाटक' ही रखा है। इस पुस्तक की रचना में संस्कृत के नाट्य-शास्त्र, दशरूपक आदि तथा अँग्रेजी की हिन्दू थिएटर्स आदि पुस्तकों से सहायता ली गई थी। इस में नाटक के भेद तथा उसके अंग प्रत्यंग का वर्णन दिया गया है। साथ ही संस्कृत तथा हिन्दी नाट्यकला का इतिहास संक्षेप में दे दिया गया है। यह पुस्तक भी परिश्रम के साथ लिखी गई है। इनके समय तक प्राप्त संस्कृत तथा हिन्दी नाटकों की तालिका भी इसमें दे दी गई हैं, जिससे इस ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ गया है। भारतेन्दु जी की इन रचनाओं की भूमिकाओं, समर्पणों तथा प्रस्तावनाओं से समय समय पर इनकी मानसिक अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। जिनका उपयोग कवि की जीवनी में किया गया है।

राजभक्ति-विषयक

भारतेन्दु जी ने स्वयं राजभक्ति पूर्ण अनेक रचनाएँ की हैं तथा अन्य लोगों से भी पुरस्कारादि देकर लिखाकर संकलित

किया है। भारतेन्दु जी का रचनाकाल सं० १६२४ से सं० १६४१ तक था और यह वह समय था जब भारतवर्ष में पूर्ण शांति नहीं स्थापित हो चुकी थी। उनके जन्मस्थान काशी ही में उन्हीं के समय संध्या के बाद किसी अमीर आदमी का आगे पीछे दस पाँच सिपाही साथ लिए बिना निकलना कठिन था। ऐसे समय शांति-स्थापक अंग्रेजी राज्य को 'ईस इत थिर करि थापै' कहना ही देशप्रेम था। साथ ही अंग्रेजी राज्य के दोषों का कथन, उनके निवारणार्थ प्रार्थना करना आदि 'राजद्रोह' नहीं कहा जा सकता था। वह अंग्रेजी राज्य का उसके दूषणों से रहित देखना ही देशप्रेम समझते थे और वही उस समय के लिए उचित भी था। भारत में उस समय अंग्रेजी राज्य के निर्वासन का कथन कोरा देशद्रोह होता था। कुछ लोगों ने इनकी निर्भीक स्पष्टवादिता को राजद्रोह बताकर द्वेष के वशीभूत हो सरकारी कर्मचारियों में इन्हें 'राजद्रोही' घोषित कर दिया था। पर इन्होंने इसका कुछ विचार न किया और अपने व्रत से न डिगे। देश-प्रेम के कारण ही यह भारत-सरकार के पूर्ण शुभचिन्तक थे और इसलिए वैसे ही अंत तक बने रहे।

सन् १८६६ ई० में सम्राज्ञी विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑव एडिम्बरा भारत आए थे, उस समय उनके काशी पधारने पर इन्होंने अपने घर पर भारी उत्सव मनाया था। काशी में उनका जो कुछ स्वागत हुआ था, उन सब में इन्हीं की सहायता प्रधान थी। यह बराबर ड्यूक के साथ रहते थे और इन्हीं को उन्हें काशी दिखलाने का भार सौंपा गया था। इनकी तथा इनके गृह के सजावट की स्वयं ड्यूक ने प्रशंसा की थी। भारतेन्दु जी ने, काशी के पंडितों की, २० जनवरी सन् १८७० ई० को, सभा की थी, जिसमें ड्यूक की प्रशंसा में रचनाएँ पढ़ी गई थी। ये ही सुमनोऽञ्जलि पुस्तक में संगृहीत

की जाकर ड्यूक को बाद का समर्पित की गई थीं। ड्यूक महोदय सं० १९२६ को कार्तिक पूर्णिमा को काशी आए थे, जिस दिन चन्द्रग्रहण था। भारतेन्दु जी ने इसी को लेकर निम्नलिखित कवित्त बनाया था—

वाको जन्म जल याको रानी कोख सागर तें,
वह सकलंकी यामें छींटहू न आई है।
वह नित घटै यह बाढ़ै दिन दिन, वह
बिरही दुखद यह जन-सुखदाई है॥
जानि अधिकाई सब भाँति राजपुत्र ही की,
गहन के मिस यह मति उपजाई है।
देखि आज उदित प्रकाशमान भूमि चंद,
नभ ससि लाज मुख कालिमा लगाई है॥

इस संग्रह तथा इनकी राजभक्ति से प्रसन्न होकर रींवा-नरेश ने दो सहस्र तथा विजयनगर की राजकुमारी ने ढाई सौ रुपये पारितोषिक भेजे थे—जिसे भारतेन्दुजी ने कविता-रचयिता पंडितों में वितरण कर दिया था। इन विद्वानों ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये भारतेन्दु जी को संस्कृत में एक मानपत्र दिया था जिसके एक श्लोक का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हुआ है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि स्वभाव दिन रैन को कारन इक हरिचन्द॥

सन् १८७१ ई० में प्रिंस ऑव वेल्स के अस्वस्थ होने पर उनकी आरोग्य-कामना के लिए भारतेन्दु जी ने नौ दोहों में ईश्वर से प्रार्थना किया था, जिसका अंतिम दोहा इस प्रकार है—

बेग सुनै हम कान सों, प्रिंस भए सानंद।
परम दीन ह्वै जोरि कर, यह बिनवत हरिचन्द॥

युवराज की स्वास्थ्य-प्राप्ति पर आनन्दोत्सव भी मनाया था।

वही युवराज सन् १८७५ ई० के नवम्बर महीने में भारत में पधारे थे। भारतेन्दु जी ने विज्ञापन देकर संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, बँगला, गुजराती, तामिल, अंग्रेज़ी आदि अनेक भाषाओं की कविताएँ आमंत्रित कीं और उनसे 'मानसोपायन' नामक संग्रह तैयार किया था। यह संग्रह सन् १८७७ ई० के आरम्भ में प्रकाशित होकर इंग्लैण्डेश्वरी के भारत-सम्राज्ञी की पदवी ग्रहण करने के समय युवराज को भेंट किया गया था।

युवराज के काशी आने पर उस अवसर के लिये इन्होंने अपने सभी स्थानों को सजवाया था, परन्तु रामकटोरा वाले बाग़ का वह भाग जो छावनी से शहर जानेवाले मार्ग पर है बड़े व्यय से ख़ूब सजाया गया था। ताश आदि कीमती कपड़ों के भंडे तथा भंडियाँ फहरा रही थीं। 'भावी भूप चिरंजीव' आदि सी वाक्यावली जगह-जगह पर जड़ाव का काम कर रहीं थीं। गुलाब की पत्तियाँ, बादले तथा कागज की चिटें, जिन पर स्वागत, वेलकम आदि शब्द लिखे थे, उड़ाई गई थीं। इसी अवसर पर इन्होंने 'भारतभिक्षा' लिखकर युवराज से देश की माँग कही थी, जो ग्यारह पृष्ठों में समाप्त हुआ था।

सन् १८७६ ई० में 'इम्पीरियल टाइटिल्स एक्ट' पास हुआ, जिससे क्वीन विक्टोरिया ने भारत सम्राज्ञी की पदवी धारण की और १ जनवरी सन् १८७७ ई० को दिल्ली दरबार में इसकी बड़े समारोह से घोषणा की गई। काशी में भी उस दिन परेड पर इस घोषणापत्र को सुनाने के लिये दरबार हुआ था, उस समय इनकी ओर से भी तैयारी हुई थी। इनका बनाया तारीखी ग़ज़ल भी गाया गया था, जिसका फ्रेंच भाषा तक में अनुवाद हुआ था। 'मनोमुकुलमाला' भी इसी अवसर पर रच कर भारतेश्वरी को अर्पित हुई थी। इसकी एक कविता अंग्रेज़ी तथा फ़ारसी अक्षरों से और एक कविता अंकों से चित्रित है। इसी दिल्ली

दरबार का वर्णन 'दिल्ली-दरबार दर्पण' में हुआ है।

२१ नवम्बर सन् १८७८ ई० को द्वितीय अफ़गान युद्ध आरंभ हुआ और २६ मई सन् १८७९ ई० को गंदमक की संधि हुई, पर तीन महीने बाद ही ब्रिटिश एलची के मारे जाने पर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ और इसका सन् १८८१ ई० में अब्दुर्रहमान के अमीर होने पर अंत हुआ। संधि के बाद का युद्ध तृतीय अफ़गान युद्ध के नाम से भी इतिहासों में पाया जाता है। इस युद्ध के आरम्भ होने का समाचार पाते ही भारतेन्दु जी ने 'भारतवीरत्व' नामक छोटा-सा काव्य लिख कर हिन्दुस्तानी नरेशों से ब्रिटिश सेना को सहायता देने के लिये प्रार्थना की थी। लिखा था कि—

जिन जवनन तुव धरम नारि धन तीनिहुँ लीनो।
तिनहू के हित आरज-गन निज असु तजि दीनो॥
तौ इनके हित क्यों न उठहु सब बीर बहादुर।
पकरि पकरि तरवार लरहु बनि युद्ध चक्रधुर॥

इसके अनन्तर इसी अफ़गान युद्ध में विजय प्राप्त होने पर 'विजयवल्लरी' बनी। इन दोनों में ब्रिटिश राज्य के सुख की मुसलमानी राज्यकाल से तुलना की गई है।

सन् १८८० ई० में मारक्विस ऑव रिपन भारत के बड़े लाट नियत हुए और इस पद पर सन् १८८४ ई० के अंत तक रहे। यह बड़े प्रजाप्रिय हो गए थे। इनके किसी पूर्वाधिकारी के भाग्य में ऐसी प्रसिद्धि नहीं लिखी थी। भारतेन्दु जी ने एक अष्टक इनके नाम पर लिखा था जिसका एक छप्पय यों है—

जदपि बाहुबल क्लाइव जीत्यो सगरो भारत।
जदपि और लाटनहू को जन नाम उचारत॥
जदपि हेस्टिंग आदि साथ धन लैगे भारी।
जदपि लिटन दरबार कियो सजि बड़ी तयारी॥

पै हम हिन्दुन के हीय की, भक्ति न काहू सँग गई ।
सो केवल तुमरे सँग रिपन, छाया सी साथिन भई ॥

मिश्र देश में विदेशी सत्ता का विरोध करने के लिये अरबी पाशा ने मंत्रिमंडल में अपना एक स्वतंत्र देशभक्त दल बना लिया था, जिसने बाद को सभी यूरोपीय कृति के विरुद्ध घृणा का रूप धारण कर लिया। जून सन् १८८२ ई० में यह विरोध विद्रोह में परिणत हो गया और विद्रोहियों ने अलक्जैंड्रिया के कुल ईसाइयों को निकाल बाहर किया। इसपर इंग्लैंड ने अकेले युद्ध आरम्भ कर दिया। भारतीय सेना भी युद्ध के लिये भेजी गई। अरबी पाशा के ससैन्य शस्त्र रख देने से यह युद्ध समाप्त हो गया। इसी युद्ध की विजय वार्ता पर 'विजयिनी विजय वैजयंती' बनी। २२ सितम्बर सन् १८८२ ई० को सन्ध्या समय टाउन हाल में उत्सव मनाने के लिए सभा हुई। राजा शिवप्रसाद सभापति बनाए गए थे। इसी अवसर पर यह कविता पढ़ी गई थी। पहिले ग्यारह दोहों में प्रश्न है कि क्यों यहाँ चारों ओर प्रसन्नता छाई है और उसके बाद सात रोलाओं में, उसके उत्तर में, मिश्र-विजय का समाचार है। इसके अनन्तर कवि भारत के प्राचीन गौरव का उल्लेख कर उसकी अर्वाचीन परतन्त्रावस्था पर रोता है और तब भारतीय सेना के मिश्र जाकर विजय प्राप्त करने का वर्णन करता है। प्रायः दो सौ पंक्तियों का यह छोटा-सा काव्य प्रत्येक देश-प्रेमी के लिये पठनीय है।

सन् १८८३ ई० में इंग्लैंड में एक जातीय संगीत सभा ('नैशनल ऐंथेम सोसाइटी') स्थापित हुई, जिसका उद्देश्य प्रायः सभी प्रचलित हिन्दुस्तानी भाषाओं में नैशनल ऐन्थेम का अनुवाद कर वहाँ की सभाओं में गाने योग्य बनाने का था। भारतेन्दु जी ने इसके लिये काशी में विद्वानों की एक सभा कर उसकी ओर से आशीर्वाद तथा हिन्दी अनुवाद भेजवाया था।

पूर्वोक्त बातों के सिवा साधारणतः वे सम्राज्ञी के प्रति वर्षगाँठ पर अपने स्कूल में उत्सव मनाया करते थे। ड्यूक ऑव एडिम्बरा की नववधू के लिए २० दोहों में 'मुँह-दिखावनी' लिखी थी। इस प्रकार देखा जाता है कि वे भारत सरकार की कृपा तथा कोप दोनों ही की परवाह न कर अथ से अंत तक महारानी के सुख में सुख तथा दुख में दुख मनाते रहे। ऐसा करते हुए भी यदि कुछ लोग उन्हें राजद्रोही समझते रहे हों, तो उनकी वे सर्वदा उपेक्षा करते थे। वे हृदय से पूर्ण राजभक्त थे, हाँ राजकर्मचारी-भक्त या चापलूस न थे। वे स्पष्टवादी थे। गुणानुकीर्तन करते हुए वे दोष भी कहते थे। जिन्हें—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

में राजद्रोह दिखलाई पड़े, वे ही सच्चे राजद्रोही हैं। सच्चे राजभक्तों की कमी तथा चापलूसों के आधिक्य ही से कितने राज्य नष्ट हो गए। भारतेन्दु जी ने स्वयं 'मानसोपायन' के समर्पण में लिखा है कि "हम सब स्वभाव-सिद्ध राजभक्त हैं। विचारे छोटे पद के अंग्रेजों को हमारे चित्त की क्या खबर है, ये अपनी ही तीन छटाँक पकाने जानते हैं।" इनमें राजभक्ति तथा देश-प्रेम दोनों पूर्णरूप से वर्तमान था और दोनों ही के लिये इनका हार्दिक उद्गार गद्य-पद्य के रूप में समय-समय पर निकला करता था। ऐसी अवस्था में भारतेन्दु जी के प्रति साधारण पुरुष-गण कभी एक को कभी दूसरे को लेकर अपनी द्वेषपूर्ण कुवृत्तियों को चरितार्थ कर सकते हैं। उन्हें देशद्रोही तथा राजद्रोही उन्हीं की रचनाओं से साबित कर देना सहज है पर ऐसा करना मनुष्यत्व से परे है। ये भारतीय दुर्गुणों को दिखलाकर उनको दूर करने, उसकी अवनति तथा दुर्दशा पर रुदन करने तथा उन्नति मार्ग दिखलाने को जिस प्रकार देशप्रेम

समझते थे उसी प्रकार राजा या उसके कर्मचारियों द्वारा जान या अनजान में प्रजा को जिस कार्य से कष्ट पहुँचा हो, उसको राजा के कर्णगोचर कराना राजभक्ति समझते थे। वे एक साँस में दोनों को यों कह डालते थे—

स्वागत स्वागत धन्य प्रभु, श्री सर विलियम म्योर।
टिकस छुड़ावहु सबन को विनय करत कर जोर॥

पूर्वोक्त दोहा उस अवसर पर बना था जब पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर विलिअम म्योर काशी आए थे और उनके स्वागत में गंगातट पर खूब रोशनी हुई थी। उसी उत्सव में एक नाव पर 'ओह टैक्स' और दूसरी पर यह दोहा लिखवाकर इस प्रकार उन्हें रखवाया था कि लाट साहब की उनपर अवश्य दृष्टि पड़े। लॉर्ड नार्थब्रुक के समय इनकम टैक्स छूटने की गप्प उड़ी थी, जिससे भारतेन्दु जी ने उत्सव मनाने के लिए सभा की थी तथा बड़े लाट के पास धन्यवाद-पत्र भी मोती टँके हुए खरीते में भेजा था पर वह अपव्यय मात्र था, क्योंकि वह बुरी बला आज भी कमासुतों के, निठल्लुओं के नहीं, पीछे पड़ी हुई है।

धर्म-ग्रन्थ

सांसारिक सुखों में लिप्त ज्ञात होते हुए भी भारतेन्दु जी ने स्वधर्म-विषयक जितना ज्ञानोपार्जन किया था और जितनी उनकी धर्म सम्बन्धी रचनाएँ प्राप्त हैं उनसे यह स्पष्टतः मालूम हो जाता है कि वे कितने धर्मभीरु तथा सच्चे कृष्णभक्त थे। इनकी अनन्य भक्ति तथा प्रेम का दिग्दर्शन इन्हीं की रचनाओं द्वारा आगे कराया जायगा। इनकी इन रचनाओं को पढ़ कर इनकी दृढ़-भक्ति तथा परम-वैष्णवता में किसी को भी शंका नहीं रह सकती। बाल्यावस्था ही से इनमें धर्म-तत्त्व विषयक शंकाएँ उठाकर उन्हें समझने का शौक़ था और 'जल में छैया' न्यायेन

विषय भोग में लिप्त ज्ञात होते हुए भी यह उनसे परे रहे। इन्होंने लगभग तीस पुस्तिकाएँ इस विषय पर लिखी हैं।

'भक्त-सर्वस्व' में लगभग चार सौ दोहे हैं। इनमें श्रीकृष्ण जी, श्री स्वामिनी राधिका जी, श्री रामचन्द्र जी तथा महाप्रभु आचार्य जी के चरण-चिन्हों पर कवि ने अनेक प्रकार से उक्तियाँ की हैं। प्रथम दो पर ही विशेष है। एक-एक चिन्ह पर आठ-आठ दस-दस भाव तक कहे गए हैं, जिनसे भक्ति-रस उमड़ा पड़ता है। इसका एक संस्करण गुजराती लिपि में भी छपा था। 'वैष्णव-सर्वस्व' में वैष्णव मत के चारों संप्रदायों—विष्णुस्वामी, रामानुज, माधवाचार्य तथा निम्बादित्य की परंपरा—तथा आचार्यों के संक्षिप्त परिचय दिए गए हैं। चारों उप-संप्रदायों—श्री चैतन्य महाप्रभु, नंद, प्रकाश तथा स्वरूप—का भी उल्लेख किया गया है। 'वल्लभीय सर्वस्व' छोटा-सा ग्रन्थ है, जिसमें केवल श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु के विषय में कुछ विस्तार से लिखा गया है। इसमें उनकी जीवनी तथा उनके स्वमत-प्रचार का वृत्तांत दोनों दिया गया है।

'तदीय सर्वस्व' श्री नारदीय भक्तिसूत्र का व्याख्या-युक्त अनुवाद है। ग्रन्थकार ने परमेश्वर प्राप्ति के परम साधन प्रेममार्ग दिखाने के लिए ही यह ग्रन्थ लिखा है। 'सारी सृष्टि के एक स्रष्टा का भिन्न-भिन्न नाम रख कर जो मत-मतान्तर तथा विद्वेष फैला हुआ है, उसी विषमता को दूर करने को इस ग्रन्थ का आविर्भाव है।'

'भक्तिसूत्र-वैजयंती' पहिले हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में प्रकाशित हुई थी। श्रुतियों के बाद मूल सूत्रों का बहुत आदर है। भक्ति-शास्त्र पर श्री नारद तथा शांडिल्य ऋषि के सूत्र सर्वमान्य हैं। इन्हीं में दूसरे का व्याख्या-युक्त अनुवाद ही यह ग्रन्थ है। इसमें सौ सूत्र हैं और भक्ति की महत्ता दिखलाई गई है। ग्रन्थ के अंत में 'दैन्य-प्रलाप' नाम से आठ पद भी इसमें दिए गए हैं।

'सर्वोत्तम स्तोत्र भाषा' में श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु के एक सौ आठ नाम दिए गये हैं। यह गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी रचित स्तोत्र का अनुवाद है। 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में एक सौ इकतालीस छप्पय तथा सत्तर दोहे हैं। अंत में एक श्लोक भी दिया है। प्रियादास तथा नाभादास जी के भक्तमाल की रचना के बाद हुए भक्तों तथा पहिले समय के भी छुटे हुए भक्तों का वृत्तांत इसमें भारतेन्दु जी ने संगृहीत किया है। इसकी रचना सं० १९३३ में हुई था।

इस ग्रन्थ को इन्होंने पहिले चन्द्रिका में प्रकाशित किया था। कवि ने पहले आचार्य परम्परा को वन्दना की है और तब ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य बतलाते हुए स्ववंश-वर्णन दिया है। ग्रन्थ के अन्त में विनम्र-निवेदन करते हुए अपने को लिखा है :—

जगत जाल में नित बँध्यों, परयो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कवि हरिचन्द ॥

वर्ष भर के उत्सवों तथा संक्षेप सेवा शृङ्गारादि वर्णन में एक छोटी सी पुस्तिका 'उत्सवावली' बनाया था। इसमें एकादशी व्रत दान आदि का भी वर्णन दिया है। 'वैष्णवता और भारत-वर्ष' में यह समर्थन विशेष रूप से किया गया है कि भारत में वैष्णवमत बहुत प्राचीन है और विष्णु के अवतार श्री कृष्ण तथा श्री राम को भक्ति तथा उपासना यहाँ बहुत दिनों से तथा दृढ़ता से प्रचलित है। हिन्दू मात्र किसी न किसो रूप में इन्हीं की पूजा करते हैं पर आपस के मतमतांतर के कारण झगड़ते रहते है। अंत में लेखक ने देश में फैली हुई आपस की फूट को दूर कर 'सब आर्यमात्र एक रहो' यही उपदेश दिया है, जो आज भी वांछनीय है।

'अष्टादशपुराणोपक्रमणिका' में व्यासकृत अठारह पुराणों की श्लोकसंख्याओं तथा उनके प्रत्येक के स्कध आदि विभागों के

कथानकों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। 'इससे पाठकों को यह लाभ है कि वे किस पुराण में अथवा उसके किस अंश में क्या कथा भाग है, इसे झट जान सकेंगे।' सहज में लोग जान जायँगे कि चार लाख श्लोक समूह के अठारह टुकड़ों में क्या क्या विषय सन्निवेशित हैं।'

तिरानबे दोहों में 'वैशाख-माहात्म्य' दिखलाया गया है। इस मास में श्रद्धालुओं को क्या करना चाहिए, यह बतलाया गया है। कार्तिक कर्मविधि में इस महीने की पुराणानुमोदित नित्यक्रियाएं वर्णित हैं। खान, पान, दान, स्नान आदि सभी का शास्त्र के वचनों सहित विवरण दिया गया है। 'कार्तिक नैमित्तिक कृत्य' में महीने के तीसों दिन का अलग-अलग कृत्य बतलाया गया है। 'कार्तिक स्नान' में बीस दोहे और पचीस पद हैं। इसमें श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेम तथा दीपदान-लीला का वर्णन है। कहा जाता है कि किसी वर्ष बीमारी के कारण यह गंगा-स्नान को न जा सके थे, इस लिये ये पद बनाए थे। 'मासानाम्मार्गशीर्षोहम्' से पवित्र महीने की महिमा वर्णन में 'मार्गशीर्ष महिमा' लिखी गई। इसमें भी महीने भर के नित्य-कर्म की विधि दी है। अंत में माघ-स्नान-विधि भी संक्षेप में दे दी गई है। 'वृहन्नारदीयपुराण' से संकलित कर 'पुरुषोत्तम मास विधान' लिखा गया। इसमें स्नान-दान की विधि लिखी है। अंत में पाँच पद 'पुरुषोत्तम पंचक' नाम से दिए गए हैं।

काव्य

राजभक्ति-पूर्ण तथा धर्म-सम्बन्धी पद्य-रचनाओं का अलग उल्लेख हो चुका है। भारतेंदुजी ने प्रबन्ध-काव्य लिखने का प्रयास ही नहीं किया है और स्वरचित मुक्तक छन्दों के ही संग्रह अनेक नामों से संकलित किये हैं। गाने योग्य पदों की संख्या अधिक है, और छंदों में सवैया, कवित्त, दोहे आदि ही इन्हें विशेष

प्रिय थे, इससे इनकी रचना में इन्हीं का आधिक्य है। इनकी कविता में रसों में शृंगार तथा भक्ति ही प्रधान हैं, और शृंगाररस भी प्रेममयी लीला सम्बन्धिनी ही विशेष कर होने से पाठकों के हृदय में किसी प्रकार से कुरुचि-उत्पादक नहीं है। सात काव्य-संग्रह शुद्ध प्रेम पर बने हैं, जिनके नाम प्रेम-फुलवारी, प्रेम-प्रलाप, प्रेमाश्रुवर्षण, प्रेममाधुरी, प्रेममालिका, प्रेम-तरंग और प्रेम-सरोवर हैं। नवोदिता चंद्रिका में एक अन्य प्रेम-प्रलाप के २४ पृष्ठ छपे हैं, जिनमें ५१ पद हैं। इनमें कवित्त, सवैये तथा गाने योग्य पद हैं। प्रेम-फुलवारी में 'जगत पावन करन' प्रेम का वर्णन है। इस ग्रंथ को कवि ने भूमि, वृक्ष, मूल तथा फल चार भाग में बाँटा है। प्रथम में तेरह, दूसरे में छियालिस, तीसरे में आठ और चौथे में तेरह पद हैं। अंत में तेरह पद श्री स्वामिनी जी की स्तुति में हैं। इसके सभी पद सुन्दर हैं और इस प्रेम के फल-स्वरूप भक्त के हृदय में कैसा युगल ध्यान प्रस्फुटित होता है, उसे कवि यों कहता है—

मन करु नित नित यह ध्यान।
सुन्दर रूप गौर श्यामल छबि जो नहिं होत बखान॥
मुकुट सीस चन्द्रिका बनी कनफूल सुकुण्डल कान।
कटि काछिनि सारी पग नूपुर बिछिया अनवट पान॥
कर कंकन चूरी दोउ भुज पै बाजू सोभा देत।
केसर खौर बिंदु सेंधुर को देखत मन हरि लेत॥
मुख पै अलक पीठ पै बेनी नागिनि सी लहराति।
चटकीली पट निपट मनोहर नील पीत फहराति॥
मधुर मधुर बंसी अधरन धुनि तैसी ही मुस्कान।
दोउ नैननि रस भीनी चितवनि परम दया की खानि॥
ऐसो अद्भुत भेष बिलोकत चकित होत सब आय।
'हरीचन्द' बिन जुगल कृपा यह लख्यौ कौन पै जाय॥

प्रेम-प्रलाप में सत्तर पद संगृहीत हैं, जिनमें संस्कृत की एक अष्टपदी है और दो पद गुजराती भाषा के हैं। इसके अधिकांश पद में प्रेमजनित उन्माद के भाव भरे हुए हैं। "खुटाई पोरहि पोर भरी", "अनीति कहा कहाँ न सहिए", "जनन सों कबहुँ नाहि चली" आदि पद भक्तों के प्रलाप ही हैं। प्रेमाश्रुवर्षण में छिआलिस पद हैं और सभी वर्षाऋतु की क्रीड़ा के हैं। वर्षा हो रही है और उसी में हिंडोले पर झूलने, भींजते हुए कुञ्जों में छिपने, वर्षा के अनन्तर भ्रमण करते हुए दृश्यावली को देखते हुए आपस के कथोपकथन आदि का वर्णन है। एक पद में प्रेमाश्रु वर्षण है। एक पद में प्रेमाश्रुवर्षण से नदी ही बहा कर स्वयं डूबती हुई की रक्षा करने को महाबाहु से प्रार्थना की गई है, देखिए—

हमारे नैन बही नदियाँ।
बीती जान अवधि सब पिय की जे हम सों बदियाँ ॥
अवगाह्यौ इन सकल अंग व्रज अंजन को धोयो।
लोक-वेद-कुल-कानि बहायों सुख न रह्यो खोयो ॥
डूबत हौ अकुलाइ अथाहन यहै रीति कैसी।
'हरीचंद' पिय महाबाहु तुम आछत गति ऐसी ॥

भारतेन्दु जी ने प्रेम की सारी माधुरी प्रेम-माधुरी के दो दोहों तथा एक सौ बाईस सवैयों में भर दी है। वाग्जाल तथा अलंकार आदि से लदी-फदी कविता के अन्वेषकों को इनमें उनका मनोनीत आस्वादन चाहे न मिले, पर स्वच्छ स्वाभाविक निर्मल वाग्धारा के प्रेमियों को इनमें वह स्वाद तथा मधुरिमा मिलेगी जो सर्वदा उनके जिह्वाग्र पर रहा करेगी। भारतेन्दु जी को अपनी काव्य-रचनाओं में यह सब से अधिक प्रिय थी और यह इसी योग्य है। जैसी स्वच्छ भाषा है, वैसे ही उमड़ते हुए भाव भी हैं। सभी सवैये एक से एक बढ़ कर हैं।

प्रेममालिका में निन्यान्नवे पद संगृहीत हुए हैं। इसमें एक तो लीला-सम्बन्धी, दूसरे दैन्य भाव के और तीसरे परम प्रेम-मय पवित्र अनुभव के हैं। ये सभी पद अत्यंत सरल भाषा में हैं और प्रेम से परिप्लुत हैं। उपालंभ, कटूक्ति, विनय सभी अनूठे हैं। प्रेमतरंग बड़ा संग्रह है। इसमें एक सौ अड़तालिस पद हैं। इसके प्रायः सभी पद साधारण सांसारिक प्रेम के हैं, कुछ कृष्णलीला सम्बन्धी भी हैं। इनमें दो-एक पंजाबी भाषा के भी पद हैं। एक बारहमासा तथा कई लावनियाँ और ग़ज़लें भी संगृहीत हैं। छियालिस बंगाली पद हैं, जिनमें 'चन्द्रिका' उपनाम है। एकतालिस दोहों का 'प्रेम सरोवर' अनूठा पर छोटा संग्रह है। इसकी भूमिका प्रेमरस से लबालब भरी है। इसकी रचना 'प्राननाथ के न्हान हित' हुई है, इसलिये वहाँ तक पहुँचने के प्रेम-मार्ग की दुरूहता चौदह दोहों में बतलाई गई है। इसके अनंतर जलाशय की शोभा का वर्णन सात दोहों में हुआ है। सात दोहों में प्रेम का महत्त्व बतलाया गया है, और सात ही दोहों में प्रेम का किनमें अभाव होता है, यह बतलाकर अन्तिम चार दोहों में सच्चे प्रेम की परिभाषा की गई है।

'होली' संग्रह में उन्यासी पद हैं, जो होलिकोत्सव के अव-सर पर गाने योग्य हैं। दूसरा संग्रह 'मधुमुकुल' अर्थात् होली के पदों का संग्रह सं० १९३७ के फाल्गुन में तैयार हुआ था। इसका उसी वर्ष जो संस्करण हुआ था, उसमें ग्यारह पद भार-तेन्दु जी के पिता के तथा संस्कृत का एक पद गोपाल शास्त्री का संगृहीत था। इनके सिवा एक सौ बाईस पद भारतेन्दु जी के हैं, जिनमें एक संस्कृत का और चार-पाँच पंजाबी के हैं। दो-चार ग़ज़ल आदि भी स्वरचित बन्दर-सभा से भी इस संग्रह में संकलित कर लिए हैं। इसमें सभी पद होली ही के हैं।

सं० १९३९ में एक दर्जन लावनियों का संग्रह 'फूलों का

गुच्छा' नाम से प्रकाशित हुआ। इसके सिवा 'प्रेमतरङ्ग' में भी कुछ लावनियों के संगृहीत होने का उल्लेख हो चुका है। 'विनय-प्रेम पच्चासा' में यथानाम विनय के पचास पद संगृहीत हैं। छः दोहे, दो कवित्त तथा दो सवैये भी इसमें हैं।

अट्ठारह पद में 'देवीछद्म लीला' समाप्त हो गई है। श्री राधिका जी का मान कर देवी का रूप बनाना तथा सखियों का सिद्धक बन कर कृष्ण जी से उनकी पूजा कराना और अन्त में मिलना दिखलाया गया है। छब्बीस पदों में प्रायःस्मरण मंगल पाठ है, जिनमें प्रत्येक पद का मंगल शब्द से आरंभ हुआ है। दस पदों में भीष्मस्तवराज बना है। श्रीनाथ स्तुति में छः छप्पय और अपवर्ग पंचक में पाँच छप्पय है। प्रथम में श्रीकृष्णजी की और दूसरे मे श्रीकृष्ण जी, श्रीराधिका जी तथा श्री वल्लभाचार्य जी की वन्दनाएँ हैं। 'श्रीसीतावल्लभस्तोत्र' संस्कृत में है और इसमें तीस श्लोक हैं।

'वर्षाविनोद' बड़ा संग्रह है, जिसमें एक सौ चौंतीस पद हैं। आरंभ के कुछ पद वर्षा में गाने योग्य हैं, और बाद के अन्य पद लीला सम्बन्धी हैं। इनमें कजली, मलार, खेमटा, ग़ज़ल, हिंडोला आदि हैं। संस्कृत की भी दो कजलियाँ हैं। इनमें 'काहे तू चौका लगाये जयचँदवा', 'टूटै सोमनाथ को मंदिर केहू लागै न गोहार,' 'देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी,' आदि भारत की राजनैतिक तथा जातीय दुर्दशा और 'धन धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस धुजा फहराय' आदि पूर्व गौरव बतला रहें है। श्रीकृष्ण, राधा जी तथा चंद्रावली जी के जन्मोत्सव के पद भी हैं।

बिहारी की सतसई के परिचय के लिये उसका नाम मात्र ही पर्याप्त है। इसके बहुत से दोहों पर पठान की बनाई हुई कुंडलियाएँ प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दुजी ने उसी को देख कर इस

सतसई के पचासी दोहों पर कुण्डलियाएँ बनाईं, जो 'सतसई-सिंगार' के नाम से प्रकाशित हुई। किसी-किसी दोहे पर चार पाँच कुण्डलियाएँ तक बनी हैं, जिससे इसमें कुल एक सौ उन्नीस कुण्डलियाएँ संगृहीत हैं। इससे अधिक दोहों पर कुण्डलियाँ बनाने का अवकाश ही उन्हें न मिल सका।

किसी जैन मंदिर में जाने के कारण निंदा होने पर भारतेन्दु जी ने छत्तीस पद रचे थे, जिनका संग्रह 'जैन कुतूहल' ग्रन्थ है। इन्होंने दिखलाया है कि हमारे ही ईश्वर जैनों के भी स्रष्टा हैं और दूसरा कोई ईश्वर आया ही कहाँ से।

पियारे दूजो को अरहंत।
पूजा जोग मानि कै जग में जाको पूजैं संत।
अपनी अपनी रुचि सब गावत पावत कोउ नहिं अंत।
'हरीचंद' परिनाम तुही है तासों नाम अनंत॥

बंशी की मधुर ध्वनि के वर्णन में तेरह पदों का एक छोटा संग्रह 'वेणुगीति' के नाम से प्रथित है, जिसके आरंभ में आठ और अंत में तीन दोहे हैं। गाने योग्य पदों का एक बड़ा संग्रह 'रामसंग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें एक सौ इक्कावन भजन हैं। इसमें अनेक राग-रागिनी के पद हैं, जो विशेषतः ग्रीष्म ऋतु के समय के हैं। जयंतियों, जन्म तथा बाललीला वर्णन के और दैन्य सम्बन्धी पद भी इसमें संगृहीत हैं। वल्लभाचार्य, श्री गिरिधर जी आदि के सुयश-कीर्तन के पद भी दिए गए हैं। 'प्रातःस्मरणस्तोत्र' में बारह पद हैं।

'स्वरूप-चिंतन' में तेरह छप्पयों में श्री कृष्णजी के प्रधान-प्रधान मंदिरों की मूर्तियों के नामकीर्तन किए गए हैं। इनमें सभी में बालस्वरूप ही का वर्णन है। प्रबोधिनी में पच्चीस छप्पय हैं। यह कार्तिक शुक्ला एकादशी के, जो देवोत्थान या प्रबोधिनी कही जाती है, उत्सव पर रचे गए हैं। उस दिन चातुर्मास के

अनंतर विष्णु भगवान की निद्रा खुलती है। उस अवसर पर भगवान को जगाने के लिये मंगलवादन, पार्षद-भक्तादि की उपस्थिति, सखी-गोपी आदि का ब्रज में गायन-वादन, बालकों का सवेरे का शृंगार इत्यादि वर्णित हैं। देश प्रेम के कारण भारत के प्राचीन विख्यात राजाओं के न रहने पर तथा मुसलमानों द्वारा देश की दुर्दशा पर रुदन करते हुये परमेश्वर से जागने के लिये इस प्रकार प्रार्थना की गई है—

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिशि सों लागो॥
महामूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो।
कृपादृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो।
अपुनो अपुनायो जानि के करहु कृपा गिरवरधरन।
जागो बलि बेगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन शरन॥

इक्कीस पयार छंदों में 'प्रातसमीरन' का अच्छा वर्णन मृदु शब्दावली में किया गया है। प्रातःकालीन वायु लगने से संसार के सजीव हो जाने का स्निग्ध वर्णन इस बंगला छंद में दिया गया है। 'कृष्णचरित्र' में छिआलिस पद, तीन कवित्त और दो सवैये हैं। गंगाजी की महिमा के आठ दस पदों को छोड़ कर बाकी सब कृष्णजी के चरित्र-वर्णन में हैं।

स्फुट ग्रन्थ तथा लेख

परिहास-प्रिय भारतेन्दु जी की विनोदपूर्ण रचनाओं में व्यंग्य-मिश्रित आक्षेप तथा उपदेश दोनों ही रहते थे। 'परिहास-पंचक' में ज्ञाति विवेकिनी सभा, स्वर्ग में विचार सभा, सबै जाति गोपाल की, बसंत-पूजा और खंड-भंड संवाद पाँच लेख हैं। पहिले में एक गड़ेरिये को क्षत्रिय होने की व्यवस्था मिली है, जिस पर प्रसन्न हो दक्षिणा देकर वह सपत्नीक गाता है—

मैं भैलों छतरी तू घन छतरानी।
अब सब छुटगै रे कुल केर कानी॥
धन धन बम्हना लै पोथिया पुरानी।
जिन दियो छतरी बनाय जग जानी॥

दूसरा लेख स्वामी दयानन्द तथा केशवचन्द्र सेन की मृत्यु पर लिखा गया था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'क्रानिकल पत्र' मे छपा था। उस विचार सभा में यह प्रश्न उठाया गया था कि उक्त दोनों सज्जनों को स्वर्ग में स्थान मिलेगा या नहीं। इस पर सेलेक्ट कमेटी द्वारा रिपोर्ट ईश्वर के पास भेजवाई गई है, पर उस पर क्या आज्ञा हुई उस विषय पर लिखा है कि 'जब हम भी वहाँ जायँगे और फिर लौटकर आ सकेंगे तो पाठक लोगों को बतलावेंगे या आप लोग कुछ दिन पीछे आप ही जानेंगे।' तीसरे लेख में नीच जाति के उच्च तथा उच्च के नीच होने की व्यवस्था दिलाते हुए दिखलाया गया है कि 'सबै जाति गोपाल की' है।

परिहासिनी में भी इसी प्रकार के लेख संगृहीत हैं, जिनमें एक पाँचवाँ पैगम्बर भी है। वेश्या स्तोत्र, अंग्रेज स्तोत्र, कंकड़ स्तोत्र आदि इसी प्रकार के अनेक छोटे-छोटे गद्य-पद्यमय लेख हैं। अंधेरनगरी, नीलदेवी आदि नाटकों में भी अवसर पाते ही व्यंग्य तथा परिहास की छटा दिखलाते रहे हैं। 'अमानत' के 'इन्दर सभा' के वज़न पर 'खियानत' नाम से एक 'बन्दर सभा' भी लिखा है। यह अप्राप्त है, पर इसमें क कुछ गाने 'मधुमुकुल' आदि संग्रहों में मिलते हैं।

उपन्यास और आख्यायिका की ओर इनकी दृष्टि बहुत बाद फिरी, और अवस्था कम प्राप्त होने से यह इस ओर विशेष कुछ न कर सके। गद्यपद्यमय 'रामलीला' लिखी है, जिसमें अयोध्या-कांड तक की लीला सन्निवेशित है। हम्मीरहठ का एक परिच्छेद

लिखा था, पर उसे वे पूर्ण न कर सके। बंकिमचंद्र चैटर्जी के 'राजसिंह' का अनुवाद अधूरा होकर रह गया। इसे बाद को बा० राधाकृष्णदास जी ने पूरा किया था। 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' में अपना कटु अनुभव लिख रहे थे पर यह भी अपूर्ण रह गई। 'मदालसोपाख्यान' पूरा छप गया है।

भारतेन्दु जी ने 'कुरान शरीफ़' के कुछ अंश का भी हिंदी में अनुवाद किया था। उर्दू में स्वयं 'रसा' उपनाम से कविता करते थे, और अन्य कवियों के अच्छे-अच्छे ग़ज़लों का एक संग्रह 'गुलज़ारे-पुरबहार' के नाम से प्रकाशित भी किया था। सन् १८८३ ई० में 'क़ानून ताज़ीरात शौहर' अदालती उर्दू में लिखा था, जिसका तारीखी किता फ़ारसी में लिखा है। इसे उन्होंने एक दिन रात के समय दो तीन घण्टे में लिखवा दिया था। खुशी पर पन्द्रह पृष्ठों का एक बड़ा लेख लिख डाला है, जो बोलचाल की उर्दू में है।

'हिंदी भाषा' में प्राचीन तथा वर्तमान भाषाओं के नमूने संगृहीत किए हैं। पञ्जाबी, बैसवाड़ी, बङ्गला आदि की कविताओं के उदाहरण तथा अनेक स्थानों की बोली के नमूने गद्य में दिए हैं। जी० एफ० निकोल तथा फ्रेडरिक पिनकॉट नामक अंग्रेज़ों के हिंदी भाषा के पत्र भी उद्धृत कर अंग्रेज़ी-हिंदी का नमूना दिखलाया है। इसके अनंतर बिहारी भाषा के गद्य तथा पद्य के नमूने भी मनोरंजक हैं। अन्त में हिन्दी की उन्नति पर अपना लेक्चर तथा 'कवितारष्टक' देकर पुस्तक समाप्त किया है। 'सङ्गीतसार' में गान-विद्या का इतिहास तथा उसके भेदोपभेद का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। नवोदिता चंद्रिका में में 'कृष्ण-भोग' छपा है, जिसमें अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ बनाने का वर्णन है। इन सब के सिवा छोटे-छोटे बहुत से लेख

लिखे हैं, जिनका अब तब कोई संग्रह नहीं हुआ। ये इनके प्रकाशित पत्रों की पुरानी फाइलों में बंद पड़े हुए हैं।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने अन्य लोगों के कितने ग्रन्थ भी सम्पादित करके प्रकाशित किए थे, जिनमें 'हठी' कवि कृत 'श्रीराधासुधा-शतक', घनानन्द कृत 'सुजान शतक', रत्न-हरिदास कृत 'कौशलेस कवितावली', संतोष सिंह-कृत 'कवि-हृदय-सुधाकर' आदि मुख्य हैं। अपने पिता बाबू गोपालचन्द्र जी की कई रचनाएँ भी इन्होंने संपादित कर छपवाई थीं। सुन्दरी-तिलक सवैयों का एक अनूठा संग्रह इन्होंने संकलित किया था। इसे कुछ लोगों ने उसी समय इनका बिना नाम दिए ही प्रकाशित कर लिया था। इस संग्रह का आधुनिक संस्करण बहुत बड़ा हो गया है। श्री काशिराज के अज्ञानुसार काष्ठजिह्वा स्वामी के पदों के कजली मलार-संग्रह तथा चैती घाँटी संग्रह छापे थे। पावस कविता संग्रह में उसी ऋतु की कविता संगृहीत हुई है।

इतिहास

भारतवर्ष सदा से इस लोक के परे परलोक की ओर ही विशेष दृष्टि रखता था और यही कारण है कि उसके प्राचीन साहित्य में धार्मिक ग्रन्थों का जितना आधिक्य है उतना अन्य विषयों के ग्रन्थों का नहीं है। इसी निवृत्ति-मार्ग के ग्रहण करने के कारण पुराणों ने, जो वास्तव में इतिहास ग्रन्थ हैं, धार्मिक रूप धारण कर लिया है और इनके पढ़ने का फल भूतकाल के इतिहास का ज्ञान न रह कर मोक्षप्राप्ति का साधन समझ लिया गया है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में विक्रम शाका के चलने के बहुत दिनों बाद के लिखे गए कुछ काव्य अवश्य मिलते हैं, जिनमें ऐतिहासिक वृत्तों का समावेश हुआ है। शृङ्खलाबद्ध इतिहास का अन्वेषण निरर्थक है, केवल 'राजतरंगिणी' ही एक ऐसा

ग्रंथ उपलब्ध है, जिसमें काश्मीर का क्रमबद्ध इतिहास दिया गया है। हो सकता है कि इस प्रकार के कुछ और ग्रंथ भी पहिले रहे हों और समय, धार्मिक द्वन्द्व तथा राज्यों के उलट-फेर में वे नष्ट हो गए हों। हिन्दी साहित्य में आज से सत्तर अस्सी वर्ष पहिले के निर्मित कितने इतिहास-ग्रंथ हैं, जो वास्तव में इतिहास कहे जा सकते हैं? हिन्दी के आरम्भ के वीरगाथा-काल में अवश्य कुछ रासो लिखे गए हैं, जिनमें किसी-किसी वीर राजा की चढ़ाइयों, युद्धों आदि का उत्तम वर्णन है। वे कविताबद्ध जीवनियाँ कही जा सकती हैं। मराठा उत्थान-काल में भी कई काव्य ऐसे बने हैं जिनमें शिवाजी, छत्रसाल, राजसिंह आदि से वीरों का वर्णन है। राजस्थान की ओर ख्यातों के लिखने की प्रथा पुरानी है और उनमें उस प्रांत के इतिहास की सामग्री भी बहुत है। हिन्दी गद्य साहित्य के आरम्भ में भी कुछ पाठ्य-ग्रंथों के बनने के सिवा विशेष कुछ न हुआ। भारतेन्दु जी ने जब हिन्दी साहित्य के सभी अंगों की पुष्टि की ओर अपनी लेखनी चलाई और मातृ-भाषा प्रेम का अविरल स्रोत बहाया तभी से हिन्दी की उत्तरोत्तर श्री वृद्धि होती चली जा रही है। उनके समय तक केवल इतिहास की दो चार छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गई थीं, जो अंग्रेज़ी की अनुवाद मात्र थीं। भारतेन्दु जी ने इस अंग की कमी की ओर दृष्टि फेरी और कई पुस्तकें लिख डालीं।

प्राचीन समय के ऐतिहासिक अन्वेषण का भी हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी ही ने आरम्भ किया है, और पुरावृत्त संग्रह, रामायण का समय आदि कई पुस्तकें लिखी हैं। पुरातन वृत्त के अनुसंधान में इन्होंने बहुत कुछ व्यय कर प्राचीन प्रशस्तियों, लेखों आदि की प्रतिलिपियाँ एकत्र की थीं और बहुत से पुराने समय के सिक्के भी संग्रह किए थे। इनके ग्रन्थों के अनुशीलन

से यह ज्ञात होता है कि इन्हें इतिहास से बहुत प्रेम था, और उस विषय का इनका ज्ञान भी बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ था। इतिहास समुच्चय में तेरह पुस्तकें संगृहीत हैं। इन सब से भी पुरावृत्त की ओर ही इनकी रुचि-विशेष रूप से पाई जाती है।

पहला ग्रन्थ 'काश्मीर-कुसुम' है। इसकी भूमिका में भारतेन्दु जी लिखते हैं कि "काश्मीर के इतिहास में कल्हण कवि की 'राजतरंगिणी' मुख्य है।.........कल्हण ने जयसिंह के काल में सन् ११४१ ई० में 'राजतरंगिणी' बनाई। यह काश्मीर के अमात्य चंचक का पुत्र था......इसके पीछे जोनराज ने सन् १४१२ ई० में राजावली बनाकर कल्हण से लेकर अपने काल तक के राजाओं का उसमें वर्णन किया। फिर उसके शिष्य श्रीवरराज ने १४७७ ई० में एक ग्रन्थ और बनाया। अकबर के समय प्राज्यभट्ट ने इस इतिहास का चतुर्थ खंड लिखा"। यह समस्त ग्रन्थ उस समय प्राप्त हो गया था। अन्य कई फ़ारसी और अंग्रेज़ी ग्रन्थों के आधार पर भारतेन्दु जी ने इस ग्रन्थ की रचना की है। भूमिका के अनंतर वर्तमान राजवंश का संक्षिप्त परिचय देकर राजतरंगिणी की समालोचना की गई है। इसके बाद श्री हर्षदेव के विषय में कुछ लिखकर एक लम्बी तालिका दी है, जिसमें द्वापर काल के आदि-गोनर्द राजा से अपने समय के महाराज रणधीर सिंह तक के २१३ नरेशों का वर्णन दिया है। इसमें पुरातत्वज्ञ ट्रायर, कनिंगहम और विलसन के मतों के अनुसार अलग-अलग समय प्रायः बहुत से राजाओं के दिए गए हैं। इस ग्रन्थ के लिखने में भारतेन्दु जी ने बहुत मनन तथा परिश्रम किया था और इसी से यह ग्रन्थ उन्हें विशेष प्रिय था।

महाराष्ट्र देश का इतिहास छोटी-सी दश पृष्ठों की एक

पुस्तिका मात्र है। इसके भी दो भाग हैं, प्रथम में शिवाजी और दूसरे में पेशवाओं का वृत्तान्त है। यह संक्षिप्त इतिहास भी अशुद्धियों से रहित नहीं है, पर उस समय के लिये वही बहुत था।

तीसरी रचना 'बूँदी का राजवंश' है। यह भी छोटी-सी पुस्तिका है और इसमें बूँदी की हाड़ा राजवंशावली दी गई है। अंत में कोटा की शाखा की नामावली भी दे दी गई है। चौथी पुस्तक 'रामायण का समय' में 'वे ही बातें दिखाई जाती हैं जो वास्तव में पुरानी हैं पर अब तक नई मानी जाती हैं, और विदेशी लोग जिनको अपनी कह कर अभिमान करते हैं।' वाल्मीकि रामायण के प्रत्येक कांड से कुछ-कुछ बातें, जैसे शतघ्नी, श्री कृष्ण पूजा की प्राचीनता आदि चुनकर दिखलाया है कि ये सब उक्त रामायण की रचना के समय में वर्तमान थीं। इस ग्रन्थ का महत्त्व पुरावृत्त-सम्बन्धी है।

इसके अनंतर 'अग्रवालों की उत्पत्ति' तथा 'खत्रियों की उत्पत्ति' लिखी गई। इन दिनों में अपनी जानकारी के सिवा अन्य मित्रों की सम्मतियाँ भी संगृहीत कर दी गई हैं। ये दोनों पुस्तकें पहिले छोटे साइज़ में मेडिकल-हाल से प्रकाशित हुई थीं। इसके अनंतर भारतेन्दु जी ने अन्य कई सज्जनों की सम्मतियाँ भी अपनी रचना में सम्मिलित कर छपवाया था।

बादशाह-दर्पण में मुहम्मद के जन्म से भारत में मुसल्मानी राज्य के अस्तकाल तक का इतिहास संक्षेप में लिखा गया है। इसमें एक बड़ी तालिका दी गई है, जिसमें सुल्तानों तथा बादशाहों के पिता-माता का नाम, जन्मवर्ष, राजगद्दी तथा मृत्यु की 'अबजद' के अनुसार फ़ारसी तारीख़ निकालने के शैर आदि प्रायः सभी ज्ञातव्य बातें दी गई हैं, जिनसे इतिहास-प्रेमियों का बहुत कुछ कुतूहल शांत होता है। दास, खिलजी, तुग़लक़, सैयद,

तथा लोदी वंश वर्णन की तालिका बहुत संक्षिप्त है पर तैमूरिया वंश की, जो सैयद अहमद के बनाए चक्र के आधार पर है, विशेष विस्तृत है। उस चक्र में तैमूर से शाह आलम तक का पूरा विवरण दिया गया है और बाद का बहादुरशाह तृतीय तक का वृत्तांत भारतेन्दु जी के मातामह राय खिरोधर लाल ने संगृहीत किया था। ग्रन्थ के अंत में एक उपष्टम्भक है, जिसमें काश्मीर के एक मंदिर पर सम्राट अकबर की खुदवाई हुई आज्ञा की तथा काशी में औरङ्गजेब द्वारा मंदिर न तोड़ने के आज्ञापत्र की प्रतिलिपियाँ दी गई हैं। औरङ्गजेब के इस थोथे आज्ञापत्र के बाद ही उसीके आज्ञानुसार कृत्तिवास का मंदिर तोड़कर उस पर 'खुदा का घर' बनवाया गया था। इस पर के लेख की भी नक़ल दी गई है।

'उदयपुरोदय' मेवाड़ के प्राचीन काल का इतिहास है। यह टॉट कृत राजस्थान, फ़िरिश्ता आदि कई ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इसकी टिप्पणी आदि से भारतेन्दु जी का पुरावृत्तानुसंधान-प्रेम तथा मननशीलता प्रगट होती है।

'पुरावृत्त संग्रह' में प्राचीन प्रशस्तियाँ, दानपत्र, शिलालेख आदि मूल और अनुवाद सहित संगृहीत हैं। आरम्भ में अकबर की प्रशंसा में कछवाहा रामसिंह रचित कुछ श्लोक एक प्राचीन प्रति से उद्धृत किए गए हैं। वह पत्र, जो औरङ्गजेब को जज़िया कर लगाने पर लिखा गया था, पूरा प्रकाशित किया गया है। काशी के अनेक मंदिरों तथा मस्जिदों पर के लेखों का भी इसमें संग्रह किया गया है।

'चरितावली' इनकी सबसे बड़ी ऐतिहासिक रचना है। इसमें विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदेवाचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन, जंगबहादुर, द्वारिकानाथ जज, राजाराम शास्त्री, लार्ड मेयो लारेंस और ज़ार

अलेकजैंडर द्वितीय की जीवनियाँ हैं। अंत में फ्रांस के फ्रांसिस प्रथम तथा नेपोलियन तृतीय, जर्मनी के चार्ल्स पंचम तथा फ्रेडरिक विलिअम, मल्हारराव, टीपू-सुलतान, सिकंदर और रावण की आठ कुण्डलियाँ भी दी गई हैं। ये सब जीवनचरित्र बड़ी खोज और छानबीन से लिखे गए हैं।

'पञ्चपवित्रात्मा' में मुसल्मान धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद, अली, बीबी फातमा, इमामहसन और इमामहुसेन की जीवनियाँ दी गई हैं। अंत में एक तालिका देकर मुहम्मद से गौस आज़म तक इक्कीस इमामों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

'दिल्ली दरबार-दर्पण' में सन् १८७७ ई० के दरबार का विशद वर्णन है जो क्वीन विक्टोरिया क भारत-साम्राज्ञी पदवी धारण करने के उपलक्ष में लार्ड लिटन के नेतृत्व में हुआ था। समय के साथ इसका महत्त्व बढ़ता जायगा। 'कालचक्र' में सृष्टि के आरम्भ से सन् १८८४ ई० तक की संसार-प्रसिद्ध घटनाओं का समय दिया गया है। अंत में जयपुर तथा भरतपुर के राजाओं के नाम उनके राज्यकाल के साथ दिए गए हैं।

इन रचनाओं के देखने से यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी इतिहासज्ञ तथा पुरातत्व-वेत्ता थे। इस कार्य में वे परिश्रम भी अधिक करते थे। इनके लेख भी एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में छपते थे। काशी का एक विशद इतिहास लिखने की इनकी बहुत इच्छा थी और इसी के लिए पं० शीतल-प्रसाद जी का साथ लेकर इन्होंने काशी के अनेक मंदिरों, घाटों आदि की प्रशस्तियों को पढ़कर उनकी प्रतिलिपियाँ तथा फोटो लिए थे पर स्वयं उनके अल्पकाल में ही स्वर्गवासी हो जाने के कारण यह कार्य न हो सका।

समाचार पत्र तथा पत्रिका

हिन्दी में सबसे पहिले राजा शिवप्रसाद की सहायता से सन्

१८४५ ई० में 'बनारस अखबार' निकला। यह रद्दी से कागज पर पं० गोविन्द रघुनाथ थत्ते के सम्पादकत्व में पहिले प्रकाशित होता था। इसकी भाषा उर्दू-मिश्रित थी और उसकी लेखन-शैली में भी उर्दूपन अधिक था। सन् १८५० ई० में तारामोहन मित्र ने 'सुधाकर' पत्र निकाला, जो कुछ दिन चलकर बन्द हो गया। प्रत्येक संख्या के पहिले पृष्ठ पर पत्र के नाम के नीचे लीथो ही में काशी के दृश्यों के चित्र रहते थे, जैसे पंचगंगा घाट, क्वीन्स, कॉलेज आदि। लीथों में और भी चित्र कभी कभी-छपते थे। इस पत्र की हिन्दी बनारस अखबार से विशेष सुधरी हुई थी। सं० १९२४ वि० के भाद्रपद में भारतेन्दु जी ने "कवि-वचन-सुधा" नामक पहिला मासिक पत्र निकाला। इसमें पद्य का एक प्रकार अभाव था; केवल कभी-कभी समस्याएँ तथा भारतेन्दु जी की कविता छपती थी। इनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साधारण मनोरंजक लेख रहते थे। इनमें समाचार भी संकलित किये जाते थे। इसके अनंतर यह पत्र बड़े आकार में साप्ताहिक कर दिया गया। इसका शीर्षक था—

> खल जनन सों सज्जन दुखी मति होंहिं हरिपद मति रहै।
> उपधर्म छूटै स्वत्व निज भारत लहै कर दुख बहै॥
> बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंहिं जग आनन्द लहै।
> तजिग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै॥

इससे धर्म, समाज तथा राजनीति सभी में इनका उस समय क्या मत था, यह स्पष्ट झलकता है। 'उपधर्म छूटै' कहना पुराने अंध-विश्वासियों को, 'हरि पद मति रहै' अश्रद्धालुओं को तथा 'नारि-सम होंहिं' समाज की पुरानी लकीर के फकीरों को जितना कर्ण कटु था उतना ही 'स्वत्व निज भारत लहै कर दुख बहै' सरकारी अफ़सरों के लिये कटु था। इसी सिद्धान्त के

अनुसार इसके लेख भी रहते थे। समाचारावली में अनेक पत्रों से समाचार भी संकलित होते थे।

उस समय इस पत्र का प्रजा तथा राजा दोनों ही ने बड़ा आदर किया। सरकार ने इसकी सौ प्रतियाँ खरीदीं और हिन्दी भाषा प्रेमी, जिनकी संख्या अल्प थी, इसकी हर संख्या के लिये टकटकी लगाए रहते थे। भारतेन्दु जी के सभी मित्रगण इसमें लेख देते थे, जिनमें स्वर्गीय गोस्वामी श्री राधाचरण जी, बाबू गदाधर सिंह, लाला श्रीनिवास दास, बा० ऐश्वर्य नारायण सिंह, बा० सुमेर सिंह साहिजादे, बा० नवीनचन्द्र राय इत्यादि प्रसिद्ध लेखक थे। समय पर पत्र न निकाल सकने तथा पं० चिंतामणि धड़फल्ले के आग्रह से बा० हरिश्चन्द्र ने इस पत्र को उक्त पंडित जी को प्रकाशित करने के लिये दे दिया।

लाला श्रीनिवासदास जी का सदादर्श पत्र साप्ताहिक था। यह दो वर्ष चलकर सन् १८७६ ई० में कविवचन-सुधा में मिल गया। इसी वर्ष भारतेन्दु जी के उद्योग से बा० बालेश्वर प्रसाद बी० ए० ने काशी से काशी-पत्रिका निकालना आरंभ किया जो साप्ताहिक थी और इसकी शैली भी वही 'हरिश्चन्द्री' थी। यह पत्रिका आगे चलकर बिलकुल स्कूली हो गई। इनके सिवा भारतेन्दु जी ने आर्यमित्र, हिन्दीप्रदीप, भारतमित्र, मित्रविलास आदि कई पत्रों को प्रोत्साहन देकर प्रकाशित कराया था और इनमें कभी-कभी लेख भी देते थे।

'कविवचनसुधा' के साप्ताहिक हो जाने पर सन् १८७३ ई० के अक्टूबर महीने से भारतेन्दु जी ने उस समय के लिए एक अत्युत्तम मासिक पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नाम से प्रकाशित करना आरम्भ किया। इस मैगज़ीन की केवल आठ संख्याएँ ही निकलीं और बाद को यही हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका के नाम से प्रकाशित होने लगी। इस मैगज़ीन में कई छोटे-छोटे ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

पुरातत्त्व विषयक टिप्पणियाँ भी दी जाती थी। इसके कुछ पृष्ठों में अंग्रेज़ी भाषा के लेख भी प्रकाशित होते थे, जिनमें कई अच्छे हैं। शतरंज की चालें भी प्रकाशित हुआ करती थी।

मैगज़ीन की समाप्ति पर सन् १८७४ ई० के जून से चन्द्रिका प्रकाशित होने लगी, जिसके शीर्ष पर नीचे लिखा छन्द छपता था—

कविजन-कुमुद-गन हिय विकासि चकोर-रसिकन सुख भरै।
प्रेमिन सुधा सों सींचि भारत भूमि आलस तम हरै॥
उद्यम सुओषधि पोखि बिरहिन तापि खल चोरन दरै।
हरिचन्द्र की यह चन्द्रिका परकासि जग मंगल करै॥

इस पत्रिका में गद्य-पद्यमय काव्य, पुरावृत्त, नाटक, कला, इतिहास, परिहास, समालोचना आदि विषय पर बराबर लेख निकलते थे। इनके लिये भारतेन्दु जी को कई सुलेखक तथा सुकवि मिल गए थे, पर यदि संपूर्ण फ़ाइल कोई देखे तो उनमें इन्हीं की कृतियाँ तथा लेख विशेषतः मिलेंगे।

यह चन्द्रिका आठ वर्ष तक हिन्दी-प्रेमियों का मनोरंजन करती रही, पर सन् १८८० ई० में पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के विशेष आग्रह करने पर भातेन्दु जी ने इसे उन्हें सौंप दिया, जिसके अनंतर वह 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और मोहन चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होती रही। सन् १८८४ ई० में भारतेन्दु जी ने इसे 'नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से पुनः प्रकाशित करना आरम्भ किया, पर दो अंक निकालने के बाद वे स्वय ही संसार से उठ गए। उनके छोटे भाई केवल एक ही अंक बाद को प्रकाशित कर सके। यह नवोदिता छोटे साइज में निकली और प्रत्येक संख्या में बावन-बावन पृष्ठ थे।

सन् १८७४ ई० के जनवरी महीने से भारतेन्दु जी ने स्त्री-शिक्षोपयोगी 'बाला-बोधिनी' नामक एक मासिक-पत्रिका

निकालना आरम्भ किया। यह डिमाई अठपेजी का एक फार्म प्रतिमास निकलता था। भारत सरकार ने इसकी सौ प्रतियाँ खरीद कर इस पत्र की उपादेयता स्वीकार की थी। इस पत्र के मुख पृष्ठ पर निम्नलिखित दोहे छपते थे।

जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष यामें कछु न विभक्ति॥
सीता अनुसूया सती अरुन्धती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण लहौ सकल जग नारि॥
पितु पति सुत करतल कमल लालित ललना लोग।
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनैं नासैं सब जग सोग॥
वीर प्रसविनी बुध बधू होइ हीनता खोय।
नारी नर अरधंग की साँचेहि स्वामिनि होय॥

इसमें स्त्रियोपयोगी लेख ही अधिक छपते थे पर मुद्राराक्षस नाटक, नीतिविषयक इतिहास आदि भी क्रमशः प्रकाशित होते-रहते थे। यह पत्रिका चार वर्ष तक प्रकाशित होकर बन्द हो गई। गवर्नमेंट ने इसकी प्रतियाँ लेना बन्द कर दिया था और यही इस पत्रिका के भी बन्द होने का मुख्य कारण है, जैसा कि भारतेन्दु जी के एक पत्र से ज्ञात होता है।

आलोचना

मानव-मस्तिष्क की उपज ही साहित्य है जो संसार की भाषाओं में लेखबद्ध होकर संचित होता रहता है और उन भाषाओं का साहित्य कहलाता है। जीवित भाषाओं के साहित्य सर्वदा उन्नति मार्ग पर अग्रसर रहते हैं और उनके साहित्य-भांडारों में निरंतर नए-नए रत्न संगृहीत होते रहते हैं। मृत-भाषाओं के भांडार क्रमशः कम होते जाते हैं, बढ़ते नहीं। जिस प्रकार मानव प्रकृति पर देश-काल आदि का प्रभाव पड़ता रहता है,

उसी प्रकार मानव-समाज की सामूहिक विचारधारा से उस समाज के प्रत्येक मनुष्य की चित्त-वृत्ति में राजनीतिक, धार्मिक सांप्रदायिक आदि परिवर्तन होते रहते हैं। मानव जाति का यही क्रमिक विकास उसकी सभी कृतियों में लक्षित होता है और यही कारण है कि उन सब पर यदि सूक्ष्मता से मनन किया जाय तो अपने-अपने समय की एक सी छाप दिखलाई पड़ती है। स्थापत्यकला, चित्रकला आदि के लिये यह समान रूप से सत्य है पर साहित्य में तो एक-एक अक्षर इस सत्यता के अक्षरशः द्योतक हैं। साहित्य का विकास तथा उसकी प्रगति उस साहित्य के भाषा-भाषी जाति के विकास तथा प्रगति का प्रतिबिंब मात्र है और इस सम्बन्ध को बनाये रखना ही साहित्य को सजीव रखना है।

विक्रमीय अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दि का भारतीय इतिहास अत्यन्त अशांतिमय रहा है और औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर निरन्तर अवनत होते हुये मुग़ल साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर अनेक छोटे-छोटे राज्य उदय तथा अस्त होते रहे थे। इस अशांतिमय काल में स्वदेशियों की आपस की युद्ध-व्यवस्था में युरोपीय जातियाँ भी सम्मिलित हो रही थीं, जिनमें अन्ततः सभी को दबाती हुई अँगरेज़ जाति प्रबल होती चली गई। सं० १८१४ वि० के प्लासी युद्ध में विजय तथा आठ वर्ष बाद बंगाल की दीवानी प्राप्त होने पर अँगरेज़ों का प्रभुत्व उस प्रांत में जम गया और क्रमशः पूरे एक शताब्दि में इस जाति ने समग्र भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार भारतीय विचार धारा में युरोपीय विचार धारा का संमिश्रण उन्नीसवीं शताब्दि ही से अनिवार्य रूप से होने लगा था, और जिस प्रकार उस समय तक भारतीय सभ्यता में पारसीय सभ्यता का पूर्णता सम्मिश्रण हो चुका था उसी प्रकार

आज यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय सभ्यता भी उसमें पूर्णरूपेण व्याप्त हो चुकी है। सन्तोष इतना ही है कि सबको अपनाती हुई भी भारतीय सभ्यता आज भी अपनी विशेषता नहीं खो बैठी है।

अँगरेज़ी प्रभुत्व के जम जाने पर सन् १८३४ ई० में पहिले-पहिल मि० चार्ल्स ग्रांट (बाद के लॉर्ड ग्लेनेल्ग) ने अँगरेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाकर ऊँची सरकारी नौकरी देने का प्रस्ताव किया। लॉर्ड मेकॉले ने उसी समय इस प्रस्ताव का समर्थन किया था और बड़े लाट की काउंसिल के प्रथम लॉ मेंबर होने पर इस पर विशेष ज़ोर दिया। लार्ड डलहाउज़ी के समय भारत के सेक्रेटरी ऑव स्टेट ने समग्र भारत को शिक्षा के लिए एक बृहत् स्कीम बनाकर भेजा और लॉर्ड डलहाउज़ी ने अविलंब ही इस कार्य में हाथ लगा कर पब्लिक इंस्ट्रकशन डिपार्टमेंट खोल दिया।

अँगरेज़ी माध्यम द्वारा हिन्दुस्तानियों को सुशिक्षित करने के पहिले भी देशीय भाषाओं की उन्नति के लिए प्रयत्न हो चुके थे। वारेन हेस्टिंग्ज़ के समय में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित हुई जिसने संस्कृत तथा फ़ारसी ग्रन्थों को विशेष रूप से प्रकाशित किया। मारक्विस वेलेज़्ली के समय फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित हुआ, जिसके प्रथम प्रिंसिपल डा० गिलक्राइस्ट थे। लॉर्ड मिंटो ने इस कॉलेज की इमारत बनवाई तथा नदिया और तिरहुत में संस्कृत पाठशालाएँ स्थापित करने का आयोजन किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से कलकत्ते में हिन्दी तथा उर्दू के गद्य ग्रन्थों की रचना का जो प्रबन्ध हुआ था, वह भी क्षणिक था। हिन्दी के दो-चार ग्रन्थों से अधिक नहीं बन सके। विशेषता यही थी कि काव्यभाषा से भिन्न उन ग्रन्थों में खड़ी बोली ही रखने का प्रयास अधिक था। उसी समय इंशा तथा

मुं० सदासुखलाल भी लखनऊ तथा प्रयाग में इसी खड़ी बोली को अपनाकर रचना कर रहे थे। तात्पर्य यह कि भारत के उत्तरापथ में जन साधारण की बोली यही हो रही थी और शिक्षित लोग जगह-जगह की ग्रामीण बोलियों का नगरों से एक प्रकार बहिष्कार कर रहे थे। श्रीरामपुर के पादरियों ने भी कई ग्रन्थ इसी समय शुद्ध हिन्दी में लिखे थे।

विक्रमीय बीसवीं शताब्दि के आरम्भ के साथ राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की रचनाओं का आरम्भ होता है। प्रथम राजा साहब की प्राथमिक रचनाएँ सरल हिन्दी ही में थीं, पर यह भाषा बाद को उर्दू-मिश्रित हो गई, यहाँ तक कि आप ने 'आमफ़हम' शब्द भी आमफ़हम (सबके समझने योग्य) समझ लिया। दूसरे राजा साहब ने सरल सुगम हिन्दी ही का आदर्श रखकर अपनी रचनाएँ लिखीं और इस प्रकार उन्होंने उस हिन्दी का आभास दिया जो भारतेन्दु-काल में पूर्ण विकसित हुई थी। उस समय ऐसे ही प्रतिभाशाली तथा शक्तिसपन्न लेखक की आवश्यकता थी, जो हिन्दी साहित्य के गद्य तथा पद्य दोनों ही विभागों को सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित करते हुये, उसे समय के साथ अग्रगामी होती हुई जनता की रुचि के अनुकूल बनाता। भाषा ही का रूप उस समय तक निश्चित नहीं हो सका था, और प्रत्येक साहित्यसेवी अपनी खिचड़ी अलग पका रहा था। स्वयं भारतेन्दु जी ही हरिश्चन्द्र मैगज़ीन के जन्म के साथ हिन्दी का नए साँचे में ढालना मानते थे। साहित्य तथा भाषा की ऐसी ही परिस्थिति में भारतेन्दु जी का उदय हुआ और उनका भाषा तथा साहित्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता माने गए। 'भाषा का निखरा हुआ शिष्टसामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।' गद्य और पद्य दोनों ही की

भाषा का इन्होंने बहुत कुछ संस्कार किया था। परम्परागत काव्यभाषा में जो पुराने समय के अप्रचलित हुए शब्द चले आ रहे थे उन्हें निकाल कर और चलते शब्दों का प्रयोग कर इन्होंने उसे सुव्यवस्थित तथा समयानुकूल बनाया।

इनके समय तक हिन्दी काव्य जगत में वही भक्ति तथा शृङ्गार आदि की पुरानी चाल की कविता होती आ रही थी और भारतीयों में नए यूरोपीय ढंग की शिक्षा आदि से जो देश-प्रेम, लोकहित आदि नए-नए भाव, उमङ्ग आदि पैदा हो रहे थे, उन रुचियों के अनुकूल कविता का एक प्रकार अभाव था। पढ़ने वालों की विचारधारा नए मार्ग पर जा रही थी और काव्यधारा उसी पुरानी लीक पर बह रही थी। भारतेन्दु जी ने दोनों मार्ग का साहचर्य कराकर काव्यकला में नई जान डाली।

गद्य का भी प्रायः यही हाल था, ऐसा कहना चाहिये पर वास्तव में इनके समय के कुछ पहिले तक का हिन्दी गद्य-साहित्य गद्य-साहित्य कहलाने के योग्य नहीं है। आज से डेढ़ शताब्दि पहिले की प्राप्त पुस्तकें केवल उस समय की भाषा के नमूने समझ कर ही आज पढ़ी जाती हैं। लल्लूलाल जी के समय की पुस्तकों में एक तो महज़ किस्सा है और अन्य पौराणिक कथाएँ हैं। इसके अनन्तर कुछ शिक्षा-सम्बन्धिनी पुस्तकें अवश्य निकलीं पर वे समय के साथ अग्रसर होती हुई जन-साधारण की मानसिक तृष्णा को किसी प्रकार तृप्त नहीं कर सकती थीं। राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, नाट्यकला आदि अनेक विषय-सम्बन्धिनी पुस्तकों का एक दम अभाव था। यूरोपीय संघर्ष के कारण बंगदेश में नए विचारों के अनुकूल नाटक, उपन्यासादि की रचना होने लगी थी और जनसाधारण में उन्हीं की नई रुचि, विचारादि का उनमें बिब-

प्रतिबिंब भाव होने से उनका समादर भी होने लगा था। हिन्दी गद्य साहित्य में प्रायः इन सबका अभाव था और इसी से भारतेन्दु जी ने अनेक विषयों पर लेखनी चलाकर जनता के लिए उपयोगी ग्रंथों की रचना की और 'साहित्य को मोड़ कर हमारे जीवन के साथ लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था, उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।'

भारतेन्दु जी बड़े ही सहृदय कवि थे तथा इनकी कवित्व-शक्ति जन्मसिद्ध थी। इनके निर्मित कवित्त, सवैये तथा पद शृङ्गार-रस से इस प्रकार परिप्लुत और ऐसे हृदय-स्पर्शी थे कि इनके जीवनकाल ही में वे लोगों के मुख से सुनाई पड़ने लगे। साथ ही देश-प्रेम, समाज-सुधार आदि के इनके लेख और कविताओं में इतना जोश था कि उनसे देश में उन्हीं के समय मंगलमयी जागृति होने लगी। उनकी काव्य रचनाएँ जब एक ओर प्राचीन परम्परा के सुकविगण पद्माकर आदि की रचनाओं में जा मिलती हैं तब दूसरी ओर सामयिक बङ्ग-देशीय कवियों की कृतियों से जा भिड़ती हैं। इसी प्रकार जब एक ओर चन्द्रावली नाटिका, भक्तमाल आदि में श्री राधा-कृष्ण की युगलमूर्त्ति में इनकी भक्ति की अनन्यता और तन्मयता दिखाई पड़ती है तब दूसरी ओर प्रेमयोगिनी आदि में अन्य-विश्वासियों, टीकाधारी गुरुओं की हँसी उड़ाते हुए समाज-सुधार आदि के उपदेश पाए जाते हैं। तात्पर्य यही है कि प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए-नए या बाहरी भावों को पचा कर इस ढंग से

मिलाना चाहिये कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें।' सत्य ही भारतीय इतिहास के अर्वाचीन तथा वर्तमान के जिस संधिकाल में भारतेन्दु जी का उदय हुआ था उसी के ठीक अनुरूप प्राचीन-नवीन की गंगा-जमुनी से अलंकृत साहित्य का निर्माण कर निस्संदेह उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर पद प्राप्त कर लिया है।

भारतेन्दु जी मातृभाषा तथा मातृभूमि दोनों ही के सच्चे सपूत थे और उनकी यावत् कृति इन्हीं दोनों के उत्थान को दृष्टिकोण में रखते हुये हुई थी। मातृभाषा की सुव्यवस्था, उसके साहित्य के सभी अंगों की उन्नति तथा उसके प्रचार का जितना इन्होंने प्रयत्न किया था उतना ही देशप्रेम और जातीयता की भावना, समाज-सुधार, ईश्वर के प्रति भक्ति और शिक्षा के प्रसार के लिये वे यत्न-शील रहे। इनकी रचनाओं ने देश के राजनीतिक सामाजिक तथा धार्मिक विचारों में नए-नए भाव पैदा किये और मातृभाषा को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न में यही सबके अग्र-गण्य भी हुये थे।

भाषा तथा भाषा-शैली

गद्य साहित्य के आरंभ के साथ जो पहिला प्रश्न उठा था वह भाषा का था। फ़ारसी की कठिनता देखकर वह सरकारी दफ़्तरों से उठा दी गई, और उसके स्थान पर उसी लिपि वाली उर्दू नियत की गई। पहले यह भाषा कुछ सरल कर लिखी जाती थी पर क्रमशः वह काठिन्य बढ़ाते हुये पुनः हिन्दी की क्रिया आदि युक्त एक प्रकार की फ़ारसी हो गई। इस उर्दू का जन्म बहुत दिनों तक रंगीले मुहमद शाह के समय हुआ माना जाता था, पर अब यह दक्षिण में सम्राट अकबर के समय में आविर्भूत हुई मानी जाती है। इसी उर्दू से केवल उर्दू जानने वाले अच्छे-अच्छे विद्वान खड़ी बोली हिन्दी का प्रादुर्भाव

होना बतलाकर कतरा जाते हैं. पर वे स्वयं नहीं कह सकते कि उनकी उर्दू में फ़ारसी शब्दों के सिवा जो और कुछ सम्मिलित है वह किस भाषा से आया है। आबेहयात के वजन में वे कहेंगे कि वह ब्रजभाषा से निकली है। अपनी-अपनी राय ही तो है, मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्नाः।

भारतवर्ष में इस समय बहुत सी भाषाएँ बोली जाती हैं और उनमें से कुछ में बहुत उच्चकोटि का साहित्य मौजूद भी है, कुछ में साधारण और कुछ में केवल ग्रामीण चनैनी इत्यादि मात्र प्राप्त हैं। यह एक नियम-सा है कि किसी भाषा के साहित्यिक रूप धारण करने के बहुत पहले वह किसी प्रांत विशेष की बोलचाल की भाषा बन जाती है। जिस भाषा के कोई बोलने या समझने वाले ही नहीं होंगे, उसमें साहित्य कहाँ से आ टपकेगा। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, गुजराती, द्राविड़ी आदि भाषाएँ अपने-अपने प्रांतों में बोली जाती थीं और समय-समय पर उनमें साहित्य का निर्माण होता जाता था। इसी प्रकार खड़ी बोली हिन्दी भी मेरठ तथा उसके आस-पास के प्रांतों में बोली जाती थी। इस बोलचाल की भाषा को सुगम समझ कर या पहिल-पहिल इसी से काम पड़ने पर मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस देश के निवासियों से विचारों के आदान-प्रदान के लिये इसी भाषा को माध्यम बनाया और इसमें अपनी भाषा के शब्दों को रखकर समझने समझाने लगे।

मुसलमानी राजधानियों तथा बस्तियों में इसी हिंदवी या हिन्दी का बोलबाला रहने लगा और यह भाषा नागरिक भाषा या सभ्य बोलचाल की भाषा बनती चली गई।

हिंदी काव्य-परंपरा में राजस्थानी, ब्रज तथा अवधी भाषाओं का प्राधान्य वर्तमान काल तक रहा है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली में कुछ कविता नहीं हुई

है। हाँ इस हिन्दी को आरम्भ में विशेषतः मुसलमान कवियों ही ने अपनाया और ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि वे किसी प्रकार की परंपरा में बँधे हुए नहीं थे। अस्तु, इस प्रकार यह हिन्दी काव्यभाषा में कुछ-कुछ प्रयुक्त होती आ रही थी। साहित्य का पद्य भाग पहिले और गद्य भाग बहुत बाद में निर्मित होता है, ऐसा नियम सा हो गया है। हिंदी साहित्य में भी यही हाल रहा है। ईसवी अठारहवीं शताब्दि के पहिले का जो कुछ गद्य साहित्य मिलता है वह ब्रजभाषा या हिन्दी में है अथवा मिश्रित भाषा में है। यह गद्य साहित्य बहुत थोड़ा था और इनके लेखकगण उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। इस गद्य साहित्य में विशेषतः कहानी या धार्मिक वार्ताएँ थीं। गद्य में लिखी गई टीकाएँ भी इसमें परिगणित की जा सकती हैं।

इसके अनंतर हिंदी गद्य साहित्य का विशेष रूप से आरम्भ ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी के साथ हुआ। कलकत्ते के कॉलेज की तत्वावधानता में कुछ पुस्तकें लिखी गईं और इंशाअल्लाह खाँ तथा मुन्शी सदासुखलाल ने भी कुछ रचनाएँ कीं, पर इससे भाषा की कोई शैली स्थिर न हो सकी। इसके बाद पुन प्रायः पचास साठ वर्ष तक यह कार्य रुका सा रहा। धर्म-प्रचार के लिये ईसाई पादरियों ने और शिक्षा के लिये स्कूली अध्यापकों ने छोटी-मोटी पुस्तकें लिखीं। ईसाई धर्म-प्रचारकों की भाषा लल्लूलाल या मुन्शी सदासुखलाल की शैली पर थी, जिसमें संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्राचुर्य था। विक्रमी बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में दो सुलेखक, राजा शिवप्रसाद सितारए-हिंद तथा राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में भाषा की दो प्रकार की शैली लेकर उतरे। पहिले सज्जन फ़ारसी तथा अरबी के 'आमफ़हम और ख़ासपसंद' शब्दों को हिन्दी भाषा में स्थान देने के शायक थे और दूसरे शुद्ध हिन्दी के। इन दोनों सज्जनों

ने भाषा के जो दो रूप उपस्थित किए थे वे एक प्रकार, कहा जा सकता है कि, प्रस्ताव के रूप में थे और अब ऐसे प्रतिभावान तथा सशक्त लेखक की आवश्यकता थी, जो इनमें से किसी एक को सुव्यवस्थित तथा परिष्कृत कर उसमें ऐसा साहित्य तैयार करते जो सुशिक्षित जनसाधारण की सामयिक रुचि के अनुकूल होता। ठीक इस परिस्थिति में भारतेन्दु जी का उदय हुआ।

भारतेन्दु जी की धार्मिक उदारता का उल्लेख हो चुका है और वे हिन्दू-मुसलमान विरोध के परिपोषक भी नहीं थे पर स्वदेशभक्ति तथा स्वमातृभाषा-प्रेम से उनका हृदय इतना भरा हुआ था कि वे एक ऐसी खिचड़ी भाषा का, जिसमें अभारतीय शब्दों की अकारण भरमार हो, समर्थन न कर सके और उन्होंने शुद्ध पर सरस भाषा ही को अपनाया। वे उसे केवल अपना कर ही नहीं रह गए वरन् अपनी प्रतिभा, लेखन-शक्ति तथा अथक उद्योग से इस शुद्ध भाषा में अनेक विषयों पर बहुत से ग्रंथ लिख डाले। इनके अनुयायी-मंडल ने भी इसी भाषा का अपनी रचनाओं में उपयोग किया और वहीं हिंदी गद्य साहित्य की सर्वमान्य भाषा हो गई। इस प्रकार भारतेन्दुजी ने भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया है। 'उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्तकठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी गद्य के प्रवर्तक माने गए।' 'वतमान हिंदी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इसका जन्मदाता कहने में भी अत्युक्ति न होगी।'

भारतेन्दु जी के गद्य की भाषा में दो या उससे अधिक शैलियाँ मिलती हैं। इन्होंने इतिहास, जीवनी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि अनेक विषयों पर रचनाएँ की हैं। कहीं गंभीर गवेषणा, तथ्यातथ्य-निरूपण आदि हैं तो कहीं परिहास, व्यंग्य और मनोरंजन हो रहा है। कहीं भावावेश में कुछ बातें

कह डाली गई हैं, तो कहीं एक-एक शब्द तौल कर गांभीर्य से लदे हुए निकल रहे हैं। अर्थात् विषय तथा भाव के अनुसार ही भाषा की शैली में परिवर्तन स्वभावतः होता गया है। हाँ इसके लिये भारतेन्दुजी ने विशेष प्रयास नहीं किया और न ऐसा करने के लिए उनके पास समय था। उन्हें तो अपना छोटा-सा जीवन हिन्दी की यथाशक्ति सेवा करने में, उनके साहित्य के प्रायः सभी विभागों में कुछ न कुछ लिखकर उनका आरम्भ कर देने में लगा देना था।

'उदय पुरोदय' एक इतिहास ग्रंथ है, और उसमें प्राचीन इतिहास का गवेषणापूर्ण अनुसंधान किया गया है। इसकी भाषा का एक नमूना लीजिए—'पहिले कह आए हैं कि वाप्पा ब्राह्मणगण का गोचारण करते थे। उनकी पालित एक गऊ के स्तन में ब्राह्मणगण ने उपर्य्युपरि कियद्दिवस तक दुग्ध नहीं पाया. इससे संदेह किया कि वाप्पा इस गऊ को दोहन करके दुग्ध पान कर लेते हैं। वाप्पा इस अपवाद से अति क्रुद्ध हुए किन्तु गऊ के स्तन में स्वरूपतः दुग्ध न देखकर ब्राह्मणगण के संदेह को अमूलक न कह सके। पश्चात् स्वयं अनुसन्धान करके देखा कि यह गऊ प्रत्यह एक पर्वत-गुहा में जाया करती थी और वहाँ से प्रत्यागमन करने से उसके स्तन पयःशून्य हो जाते हैं।'

बादशाह दर्पण का एक अंश इस प्रकार है—'इसका प्रकृत नाम फखरुद्दीन अजग खाँ था। पहिले यह बुद्धिमान और बड़ा दानी था। हज़ार दर का महल बनवाया। मुग़लों से सुलह किया और दक्षिण में अपना अधिकार फैलाया। पर पीछे से ऐसे काम किए कि लोग उसे पागल समझने लगे। हुकुम दिया कि दिल्ली की प्रजा मात्र दिल्ली छोड़ कर देवगढ़ में रहे, जिसको दक्षिण में दौलताबाद नाम से बसाया था। इसका फल

यह हुआ कि देवगढ़ तो न बसा किन्तु दिल्ली उजड़ गई। अन्त में फिर दिल्ली लौट आया।'

पूर्वोक्त दोनों उद्धरणों के देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि दोनों शैलियों में बहुत कुछ भेद है। प्रथम में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता के साथ वाक्यावली भी विशद है पर दूसरे में यह दोनों बातें नहीं हैं, प्रत्युत बहुत से फ़ारसी के सरल शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, और छोटे-छोटे वाक्य ही विशेषतः रखे गये हैं। इसका कारण प्रत्यक्ष ही यह है कि पहिले में प्राचीन काल का पुरातत्व-विषयक इतिहास गवेषणा तथा मनन-लिखा जा रहा है और दूसरे में मुसलमानी काल के इतिहास की साधारण बातें दी गई हैं, तथा इसी से इस भाषा में उर्दू के प्रचलित सुगम शब्द आप से आप आ गए हैं। यही इनकी वास्तविक भाषा शैली है, जो मध्य मार्ग पर अवलंबित है।

स्वनिर्मित 'नाटक' में प्रतिकृति के तथ्यातथ्य-निरूपण में इस प्रकार लिखते हैं—

'किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वनवा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी या चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है। यद्यपि महामुनि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किंतु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंतःपटी-परिवर्त्तन द्वारा वन, उपवन या पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी।'

'लेवी प्राण लेवी' लेख का एक अंश इस प्रकार है। इसमें व्यंग्यात्मक शैली ही मुख्य है।

'कोइ खड़ा हो जाता था, कोई बैठा ही रह जाता था, कोई घबड़ा कर डेरे के बाहर घूमने चला जाता था कि इतने में

कोलाहल हुआ "लाट साहब आते हैं।" राय नारायन दास साहिब ने फिर अपने मुख को खोला और पुकारे "स्टैंड अप" (खड़े हो जाव)। सब के सब एक संग खड़े हो गए। राय साहिब का "सिट डौन" कहना तो सब को अच्छा लगा पर "स्टैंड अप" कहना सबको बुरा लगा मानो भले-बुरे का फल देने वाले रायसाहिब ही थे।'

सत्य हरिश्चन्द्र में पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु पर महारानी-शैव्या विलाप कर रही हैं। वाक्य छोटे-छोटे हैं और भाषा सरल बोलचाल की रखी गई है जो अत्यन्त स्वाभाविक है......'हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय अब मैं किसका मुख देख के जीऊँगी! हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया! हाय, मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला! अरे बेटा! तैं तो मरे पर भी सुन्दर लगता है। हायरे! अरे बोलता क्यों नहीं!'

इस प्रकार कई उद्धरण देने का एक कारण यह भी था कि कुछ लोगों के इस कथन में 'गद्य शैली को विषयानुसार बदलने का सामर्थ्य उनमें कम था' कहाँ तक सत्य है, इसकी परख हो जाय। हो सकता है कि जिस विषय पर उन्होंने एकाध लेख मात्र लिखा हो उसकी भाषा वे उसके अनुरूप न रख सके हों या रखने का ख्याल भी न किया हो पर इस प्रकार का विस्तृत कटाक्ष कर देना अनुचित ही है।

पूर्वोक्त उद्धरणों से यह मालूम हो जाता है कि विषय के अनुसार इनकी भाषा-शैली चाहे जिस प्रकार की रहे पर उन सबकी वाक्यावली सरल होती थी। वाक्यों के अन्वय जटिल तथा दुर्बोध नहीं होते थे। शब्दों के चुनाव में विशेषतर सरलता और सुगमता ही का ध्यान रहता था। सबके ऊपर उनकी

भाषा उनके भावों को विकसित कर उन्हें बड़ी मार्मिकता से प्रकट कर देती थी। यही कारण है कि इनके जीवन कालही में तत्कालीन प्रायः सभी प्रमुख सुलेखकों ने इस शैली को अपनाया था।

भारतेन्दु जी ने अपनी भाषा में फ़ारसी-अरबी के शब्दों को भी रख दिया है पर उनके वे ही रूप लिए गए हैं जो बिल्कुल चलते हुए हैं। उनके तत्सम रूप रखने का प्रयास नहीं किया गया है। जनाने, नाराज, हफ़्ता, मसाला, खुरमा, चासनी, खबगी, जादे, बरखास्त आदि के शुद्ध तत्सम रूप ज़नानः, नाराज़, हफ़्तः, मसालः, खुर्मा, चाशनी, ज़्यादः, बरख़्वास्त आदि नहीं रखे गए हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी के कितने चलते शब्द भी इनके द्वारा प्रयुक्त हुए हैं और उनका तत्सम रूप नहीं लिया गया है। टिकट, अंधरी मजिस्टर, कमेटी, किरिस्तानी, पतलून आदि शब्द शुद्ध अंगरेज़ी शब्दों के बिगड़े रूप हैं पर बोलचाल में इसी प्रकार प्रयुक्त होते आए हैं और इसलिये इसी रूप में रखे गए हैं। संस्कृत के भी तद्भव शब्दों का जो बोल चाल में काम आते हैं खूब प्रयोग किया गया है, उनके शुद्ध ही रूप देने का प्रयास नहीं किया गया है। जजमान, मूरत, नहान, आपुस, गुनी, अच्छे आदि ऐसे बहुत शब्द मिलते हैं जो बोलचाल में इसी रूप में बराबर व्यवहृत होते हैं, और जो कानों को बड़े प्रिय भी लगते हैं। इनका प्रयोग उपयुक्त स्थान पर होने से नहीं खलता तथा रचना आधिक्य के कारण न खटकते भी नहीं।

भई, आवता, ई (यह), कहाते हैं, करथी, लिहिन हैं, होय गई, जाथौ आदि से शब्द भी काम में लाए गए हैं पर प्रायः वे ऐसे पात्रों द्वारा प्रयुक्त कराए गए हैं जो उसी प्रकार की बोली बोलते थे। काशी में अवधीपन युक्त भाषा आज भी बोली जाती है और यहाँ के रहने वाले पात्रों द्वारा ऐसे शब्दों का प्रयोग उचित ही हुआ है।

मुहाविरे के प्रयोग से भाषा में सबलता आती है और बहुतेरे भाव इनके प्रयोग से ऐसा खिल उठते हैं जैसा वे कई वाक्यों के लिखे जाने पर स्यात् न होते। इनसे भाव-व्यंजना में बड़ी सुगमता हो जाती है। मुहाविरे के थोड़े शब्दों में अधिक बातें समाविष्ट रहती हैं। भारतेन्दु जी ने इस प्रकार के मुहाविरों का प्रचुरता से प्रयुक्त किया है। लोहे का चना चबाना, अपने रंग में मस्त होना, सोरहो दंड एकादशी, अंधी की लकड़ी, कोख में आग लगाना, कलेजे पर सिल रखना आदि मुहाविरों ने इनकी भाषा में खूब चलतापन और सजीवता ला दी है। इनकी कविता में भी लोकोक्तियों और मुहाविरों की खूब बहार है और इनका अलग उल्लेख हो चुका है।

नाट्यशास्त्र-ज्ञान

भारतेन्दु जी ने कुल मिलाकर लगभग डेढ़ दर्जन के नाटक लिखे, जिनमें कई संस्कृत से, एक बँगला से तथा एक अँगरेजी से अनूदित हैं। इसलिये इनके छोटे-बड़े प्रायः नौ दस मौलिक नाटकों ही की रचना से इनके नाट्यशास्त्र-ज्ञान की पड़ताल की जायगी। इसके सिवा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु जी ने नाट्यकला पर स्वतंत्र पुस्तक 'नाटक' लिखा है, जिसे उन्होंने संस्कृत तथा अँगरेजी दोनों ही के नाट्यकला के ग्रंथों को मनन करके तैयार किया है और स्थान-स्थान पर अपनी स्वतंत्र राय भी दी है। सर्वोपरि इन्होंने इसमें "अब नाटक में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'संफेट', 'पंचसंधि', वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करने, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रख कर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से

उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरत जी जो सब नियम लिख गए हैं, उनमें जो हिन्दी नाटक-रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।" अस्तु, इस 'नाटक' तथा इनके मौलिक नाटकों के रचना-कौशल दोनों ही पर दृष्टि रखते हुए विवेचना करना उचित होगा।

भारतीय नाट्यकला के अनुसार नाटक के तीन मूलतत्व कथावस्तु, नायक तथा रस होते हैं। कथावस्तु से उस आख्यान या घटना या व्यापार से तात्पर्य नहीं है जिससे नाटक की कथा-वस्तु का निर्माण हुआ है, पर उसके उस स्वरूप से मतलब है जो नाटककार के कौशल ने उन्हें दे दिया है। यह वस्तु दो प्रकार का होता है—आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक के प्रधान फल का जो मालिक होता है उसे 'अधिकारी' कहते हैं और उसकी ही कथा आधिकारिक है। इसकी साधिका इतिवृत्ति 'प्रासंगिक' कहलाती है। यही अधिकारी नायक कहलाता है। जिस प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र में हरिश्चन्द्र अधिकारी या नायक है और उनकी कथा आधिकारिक है। इस कथावस्तु के व्यापारों को करने या सहने वाले मनुष्य होते हैं जिनके कार्यों को देखकर तथा वार्त्तालाप सुनकर कुल बातें दर्शकों पर प्रकट होती हैं। इसी लिए नाटककार इन व्यापारों का अभिनय तथा पात्रों के कथोप-कथन द्वारा बड़ी कुशलता से संगठित करता है, जिससे कुल घटना-क्रम पाठकों, विशेषतः दर्शकों, को हृदयंगम हो जाती है। यह कथोपकथन पात्रों के चरित्र के अनुकूल ही होना चाहिए। मितभाषी पात्र का बकवाद, गम्भीर राजनीतिज्ञ का मसखरापन आदि दिखलाना दोष हो जायगा। इस वार्तालाप ही से पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेष सहायता मिलती है। नाटक-

कार को घटना के समय तथा देश के अनुसार पात्रों का चरित्र गुंफित करना पड़ता है। घटना यदि दो सहस्र वर्ष पहिले के किसी दक्षिण राजवंश की है और नाटककार उसे वर्तमान समय के राजस्थान के किसी राजवंश की रीति-प्रथा आदि लेकर निर्माण करता है तो वह दोनों ही के विरुद्ध चलता है और वह कभी सफल नहीं हो सकता है। नाटक का कुछ उद्देश्य भी होना चाहिए और वह जिस उद्देश्य से लिखा गया है उसका उसी कथावस्तु के साथ विकास होते चलना चाहिए। नाटककार के निजी भाव, अनुभव, विचार आदि भी क्रमशः आप से आप इस कथावस्तु के विकास के साथ-साथ लगे रहते हैं, जिससे हर एक कुशल नाट्य-शिल्पी की एक-एक निजी शैली हो जाती है। काव्य की आत्मा रस की प्राण-प्रतिष्ठा की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि इनके बिना नाटक नीरस और निर्जीव ही रह जायगा। संस्कृत-साहित्य में रस-विरोध न होना आवश्यक बतलाया गया है पर नवीन प्रणाली के दुःखांत नाटकों में ऐसा हो जाना अवश्यम्भावी हो गया है।

कथावस्तु के प्रयोजन की सिद्धि के उपाय को अर्थ प्रकृति कहते हैं, जो पाँच होती हैं। इनके नाम बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य हैं। प्रयोजन सिद्ध्यर्थ आरम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, जिनके नाम आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। एक ही प्रयोजन से युक्त पर इतिवृत्त के अवस्थानुसार विभक्त हुए कथांशों के अवांतर संबंधों से पाँच संधियाँ होती हैं, जिन्हें मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण कहते हैं। इन संधियों में पहिले के बारह, दूसरे के तेरह, तीसरे के तेरह, चौथे के तेरह और पाँचवें के चौदह अंग होते हैं। परन्तु इन सब का आधुनिक काल में भारतेन्दु जी के अनुसार विशेष कुछ काम नहीं है, जैसा ऊपर के एक उद्धृत अंश से ज्ञात हो जायगा।

पाश्चात्य नाट्यकला में पूर्वोक्त अर्थप्रकृति तथा संधि का विश्लेषण नहीं है पर कथावस्तु के कर्मानुसार पाँच अवस्थाएँ मानी जाती हैं। पहिली और पाँचवी आरम्भ और अंत हैं। तीसरी वह है जिसे क्लाइमेक्स अर्थात् चरम सीमा कहते हैं। दूसरी और चौथी अवस्था चढ़ाव और उतार है। यह पाँचों भेद साधारण हैं। नाटकों में प्रायः प्रेमियों की लीला प्रदर्शित की जाती है। उदाहरणार्थ एक प्रेमलीला लीजिए। दो प्राणियों के प्रेमांकुरण से इसका आरम्भ होता है। उसके मार्ग में रुकावट पड़ती है पर वह अग्रसर होता रहता है। इसके अनन्तर यह बाधा अपना पूर्ण रूप प्रगट करते हुए भी असफल होने का आभास देती है। इसके बाद वह क्रमशः बिलकुल दब जाती है, तब अंत युगल-मिलन मे हो जाता है।

विद्यासुन्दर नाटक म ठीक इसी प्रकार की एक प्रेमलीला का वर्णन है। इसका मूल आधार तो केवल इतना ही है कि एक राजकुमारी विद्या का उसके सहपाठी सुन्दर से प्रेम हो गया था, जिसका अंत वियोग में हुआ था। बँगला के विद्या-सुन्दर नाटक को देखने का मुझे सौभाग्य नहीं मिला है, इसलिए इस विषय में कुछ नहीं लिखा जा सकता कि भारतेन्दु जी ने उसमें क्या घटी-बढ़ती की है। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है तथा पहिला चार और दूसरा तथा तीसरा तीन तीन गर्भांकों में बँटा है। इस "गर्भांक" शब्द का बड़ा दुरुप-योग किया गया है। यह शब्द अँगरेजी के 'सीन' शब्द का समानार्थी माना गया है, यद्यपि संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार किसी अंक के मध्य में आने वाले अंक को गर्भांक कहा है और यह आदेश किया है कि रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग होना चाहिए। बँगला के आधुनिक नाटकों में गर्भाङ्क सीन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और जान

पड़ता है कि भारतेन्दु जी ने भी इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है।' यह गर्भाङ्क उद्धरण-लेखक को हौआ सा मालूम हुआ है। भारतेन्दु जी 'नाटक' में लिखते हैं कि 'प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भाङ्कों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है।'

'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक पौराणिक आख्यान तथा 'चंड-कौशिक' नाटक के आधार पर लिखा गया है। भारतेन्दु जी ने इसकी कथावस्तु को बड़ी कुशलता से सुगठित किया है। बालकों को उपदेश देने के जिस उद्देश्य से यह लिखा गया है, उसे यह पूर्णरूप से चरितार्थ कर रहा है। इसमें वीर रस के सत्य, ज्ञान तथा कर्म तीनों भेद का परिपाक हुआ है और करुण, वीभत्स रसों का भी समावेश हुआ है। इसमें चार ही अङ्क हैं और अन्तिम अङ्क को चंडकौशिक के समान व्यर्थ ही दो अङ्कों में विभक्त कर नाटक में कम से कम पाँच अङ्क होने के नियम का दोषमार्जन नहीं किया गया है। यह कवि-स्वातंत्र्य है। इसमें अर्थ प्रकृति तथा अवस्थाएँ सभी उपयुक्त स्थानों पर मौजूद हैं और यह नाटक सभी लक्षणों से युक्त है।

इनके सिवा 'चंद्रावली नाटिका', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी', प्रेम-योगिनी आदि कई छोटे-बड़े रूपक लिखे गए, जिनकी संक्षिप्त आलोचना अलग की जा चुकी है। इन सब विवेचनों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी को संस्कृत नाट्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान था और यूरोपीय नाट्यकला का भी उन्होंने मनन किया था। पारसी थिएट्रिकल साहित्य के विषय में भारतेन्दु जी की अच्छी सम्मति नहीं थी। जिन नाटक

कंपनियों के लिए वैसे नाटक लिखे जाते थे उनका व्यवसाय पैसे कमाना था तथा वे साहित्यक दृष्टि से नहीं लिखे जाते थे। ऐसी नाटक कंपनियाँ आज भी हैं, जो वस्त्रभूषा, दृश्य, पट परिवर्तन, नर्तकियों आदि की बाहरी चमक दमक से दर्शकों को आकर्षित करना ही अपना धर्म समझते हैं।

चरित्र-चित्रण

नाट्यशास्त्र ज्ञान की चर्चा के अनंतर चरित्र-चित्रण की उच्चतर कला की ओर आइए, जिसमें मनुष्यों के मनोविकारों तथा उच्चतम भावों का समावेश कर कवि या नाटककार आदर्श चित्र अंकित करते हैं। साधारण पात्रों में ऐसे विकारादि की क्षणिक अभिव्यंजना ही काफ़ी हो सकती है पर प्रधान पात्रों में इन सब को अथ से इति तक अनेक अवसर लाकर अभिव्यक्त करते रहना आवश्यक होता है। इसी कारण नाटककार को मानव-जीवन के सभी अंगों का, विशेषतः जिनको वह चित्रित कर रहा हो, पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, नहीं तो वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। साथ ही उस ज्ञान का कुशल शिल्पी ही इस प्रकार उपयोग कर सकता है, जिससे उसके चित्र उठते हैं। भारतेन्दु जी ऐसे ही कुशल नाटककार थे और उनके मौलिक नाटकों के कुछ पात्रों का ऐसा ही चित्रण हुआ है।

'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक में राजा हरिश्चन्द्र तथा विश्वामित्र प्रधान पात्र हैं, और रानी शैव्या, इन्द्र नारद गौण पात्र हैं। पहिले वीरवर सम्राट् हरिश्चन्द्र को लीलिए। इनका व्रत था—

चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द्र को टरै न सत्य विचार॥

इस सत्यवीर के प्रभूत ऐश्वर्य अटलशक्ति, विवेक, ज्ञान-धर्म, प्रियता, दानशक्ति, शील, धर्मनिष्ठा, क्षमा आदि गुणों को देखकर एक अन्य पात्र को ईर्ष्या होती है और वह विश्वामित्र से क्रोध

ब्राह्मण में उनके प्रति क्रोध उत्पन्न कर उन्हें हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा लेने को उभाड़ता है। अब एक पक्ष अपने सत्य-पथ से जरा भी विचलित न होते हुए सभी रुकावटों को रौंदता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है और दूसरा अपनी षड्यंत्रकारिणी दुष्ट बुद्धि को बाधाएँ उपस्थित करने में अंत तक प्रेरित करता रहता है। महाराज हरिश्चन्द्र स्वप्न में दिए हुए दान को सत्य मानकर दानपात्र ब्राह्मण के नाम पर राज्य चलाते रहने का प्रबंध कर रहे थे कि स्वप्न के वही ब्राह्मणदेव क्रोध के मूर्त्तिरूप आ उपस्थित होते हैं और जब बकझक करते हुए भी स्वप्न का प्रतिगृहीत समग्र राज्य पा जाते हैं, तब दक्षिणा के बहाने उस सत्यवीर नायक को सस्त्रीक बिकने पर बाध्य करते हैं। इस 'अकारण कोही ब्राह्मण' बने हुए क्षत्रिय के दुर्व्यवहार पर भी सच्चे क्षत्रिय शूरवीर में ब्राह्मणों के प्रति जो उदारता थी वह उक्त महाशय को अंत तक सौम्य बनाए रखती हैं कुशल नाटककार ने आरम्भ से अंत तक इस प्रकार घटना-संगठन किया है कि दर्शकों की नायक के प्रति ज्यों ज्यों सहानुभूति आकर्षित होती जाती है, त्यों त्यों तपस्वी प्रतिनायक की ओर उनकी अश्रद्धा उत्तोत्तर बढ़ती जाती है। महाराज हरिश्चन्द्र राज्य, स्त्री, पुत्र तथा शारीरिक स्वातंत्र्य सब कुछ खोकर भी अपना शील, सौम्यता, सत्य में दृढ़ता तथा ईश्वर भक्ति नहीं त्यागते। दर्शक उनकी ओर श्रद्धा पूर्ण नेत्रों से देखते रहते हैं और अंत होते होते स्यात् ही उनमें ऐसा कोई निष्ठुर हृदय होगा, जिसकी आँखें न डबडबा आएँ। प्रतिनायक विश्वामित्र की कुटिलता देखते-देखते दर्शकों को उन पर घृणा हो जाती है, यहाँ तक की स्वर्गस्थित देवगण भी धिक्कार देने मे पीछे नहीं रह जाते। राजा हरिश्चन्द्र का यह सत्यव्रत लोकव्यापी व्यापार हो उठा था, और केवल मनुष्यों ही का नहीं, देवगण की भी दृष्टि उसी ओर रहने लगी थी।

राजा हरिश्चन्द्र अपने गौरव तथा आत्माभिमान को कहीं नहीं भूले हैं। उन्हें अपने उच्चतम वंश का, सहज क्षात्रधर्म का तथा सत्यव्रत का सच्चा दर्प था। दक्षिणा-रूपी ऋण के लिए शरीर बेंच देने पर सहस्र कष्ट होते हुए भी वे मृत्यु को आवाहन करने का विचार भी लाना अधर्म समझते थे। कहते हैं—

तनहिं बेंचि दासी कहवाई। मरत स्वामि आयसु बिनु पाई।
करु न अधर्म सोचु मन माहीं। पराधीन सपने सुख नाहीं॥

कापालिक जब इनकी सहायता से रसेन्द्र आदि सिद्ध करके ले आता है और इन्हें देने लगता है, तब यह उसे अपने स्वामी डोम को देने के लिए कहते हैं, क्योंकि वे समझते थे कि 'देह के साथ ही अपना स्वत्वमात्र बेंच चुका।' इसी पर धर्म आश्चर्य-चकित होकर कहता है कि—

चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
पै बीरन के मन कबहुँ चलहि नहीं ललचाय॥

उदारता नायक में इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि सब महाविद्याएँ स्वतः इनकी वशवर्तिनी होकर आईं, तब इन्होंने उन्हें अपने सभी कष्टों के मूल विश्वामित्र के पास अपनी ओर से केवल इस कारण भेज दिया कि 'उन्होंने उनके वास्ते बड़ा परिश्रम किया था।' ब्राह्मणों के प्रति उनका यह औदार्य तथा आदर उनके सभी आचरणों से व्यक्त होता था। महारानी शैव्या सी स्त्री के दासी होकर जाते समय कौंडिन्य महाराज के बालक रोहिताश्व को व्यर्थ ढकेलने तथा उस बालक के रोते हुए उठ कर क्षोभ तथा क्रोध भरी आँखों से माता पिता की ओर देखने पर, वे केवल इतना ही कहते हैं कि 'ब्राह्मण देवता, बालकों के अपराध से रुष्ट न होना।' और पुत्र से कहते हैं कि 'ब्राह्मण का क्रोध तो सब दशा में सहना चाहिए।'

'चांडाल-याजिन्' की कुटिलता से जब हरिश्चन्द्र चांडाल-दास हुए तब इन्होंने अपने स्वामी के प्रति जो स्वामिभक्ति दिखलाई है वह उस स्वामिभक्ति से कठिनतर थी जो वे स्वयं अपने कर्मचारियों तथा दासों से चाहते रहे होंगे। सत्य ही, ऐसे सत्यवीर सम्राट् के सभी कार्य आदर्श थे। सांसारिक सुख-दुख के अनुभव कटु होते ही हैं। ऐसी कष्टमय परिस्थिति में पड़कर कितने साधारण पुरुष क्या न क्या कर बैठते हैं। इसी कटु अनुभव तथा स्वामिभक्ति के कारण आती हुई निधि, भगवती के आशीर्वाद सभी को अपने मालिक ही के लिए माँग लिया था और महाविद्याओं, अष्टसिद्धि, नवनिधि तथा बारह प्रयोगों को विश्वामित्र, योगियों, सज्जनों तथा साधकों के पास विदा कर दिया था। पुत्र की मृत्यु पर नियमानुसार उसके अधखुले कफन से आधा अंश माँग कर इन्होंने देवताओं तक से कहला डाला—

अहो धैर्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम्।
त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्वलोकोत्तरं कृतम्॥

दानवीर जब दान देने में अपने को असमर्थ पाता है और याचक सम्मुख उपस्थित होता है तब उसे कितनी मार्मिक व्यथा होती है, यह भी एक स्थान पर बड़ी सुन्दरता से दिखला दी गई है। आरम्भ में नारद जी से नाटककार ने महाशयता की परिभाषा इस प्रकार कराई है कि 'जिसका भीतर बाहर एक सा हो और विद्यानुरागिता, उपकारप्रियता आदि गुण जिसमें सहज हो, अधिकार में क्षमा हो, विपत्ति में धैर्य, संपत्ति में अनभिमान और युद्ध में जिनकी स्थिरता हो, वही ईश्वर की सृष्टि का रत्न है और उसी की माता पुत्रवती है।' राजा हरिश्चन्द्र महाशय तथा सृष्टि के रत्न थे और यही कारण है कि आज तक सत्यवीरों की सूची में पहिला नाम इन्हीं का रखा जाता है।

प्रतिनायक विश्वामित्र इन्द्र द्वारा प्रेरित होने पर ही हरिश्चन्द्र के विरुद्ध उठे थे पर उनका 'इस पर स्वतः भी क्रोध' था। वशिष्ठ ऋषि से विश्वामित्र की शत्रुता पुराण-प्रसिद्ध है और राजा हरिश्चन्द्र इन्हीं वशिष्ठ जी के यजमान थे। जिस समय आप पहिले-पहल रंगमंच पर पधारते हैं और राजा उनका शिष्टाचार करते हैं तब आप 'रे क्षत्रियाधम, सूर्यकुलकलंक, दुष्ट' आदि से उन्हें संबोधित करते हैं। इसके बाद पैर पर गिरकर विनय करने पर भी आप क्रोध से कहते हैं, 'सच है रे पाप पाषंड मिथ्या दानवीर! तू क्यों न मुझे "राजप्रतिग्रह-पराङ् मुख" कहेगा क्योंकि तैंने तो कल सारी पृथ्वी मुझे दान दी है, ठहर देख इस झूठ का कैसा फल भोगता है। हाँ! इसे देखकर क्रोध से जैसे मेरी दाहिनी भुजा फिर शाप देने को उठती है वैसे ही जातिस्मरण के संस्कार से बाईं भुजा फिर से कृपाण ग्रहण किया चाहती है। (अत्यन्त क्रोध से लंबी साँस लेकर और बाँह उठाकर) अरे ब्रह्मा! सम्हाल अपनी सृष्टि को, नहीं तो परम तेजपुंज दीर्घ तपोवर्द्धित मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जायगा, अथवा संसार के नाश ही से क्या? ब्रह्मा का तो गर्व उसी दिन मैंने चूर्ण किया, जिस दिन दूसरी सृष्टि बनाई, आज इस राजकुलांगार का अभिमान चूर्ण करूँगा, जो मिथ्या अहंकार के बल से जगत में दानी प्रसिद्ध हो रहा है।'

इस प्रकार वह अनेक तरह के वाग्बाण छोड़ते हुए राजा का सर्वस्व अपहरण कर उसे शरीर बेंच कर दक्षिणा चुकाने काशी भेज देते हैं। दर्शकों को इनके प्रति इतने ही से घृणा उत्पन्न हो जाती है। काशी में तक़ाज़ा करने पहुँचने पर आप कहते हैं कि 'इसके सत्य, धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्यभ्रष्ट हो चुका पर जब तक इसे सत्य-

भ्रष्ट न कर लूँगा तब तक मेरा संतोष न होगा। (आगे देखकर) अरे ! यही दुरात्मा (कुछ रुककर) वा महात्मा हरिश्चन्द्र है ? (प्रगट) रे आज महीने में कै दिन बाकी हैं ? बोल कब दक्षिणा देगा ?'

इससे घृणा बढ़ती है और साथ ही सच्चे गुण का असर कठोर हृदय पर भी होता दिखलाकर नाटककार ने इसे अस्वाभाविक होने से बचा लिया। यहीं से यह भी लक्षित करा दिया है कि प्रतिनायक पर नायक के लोकोत्तर गुण का असर हो रहा है, और उसमें द्वेष की मात्रा कम होती जा रही है, जो दो एक परीक्षा के बाद ही मिट जायगी तथा उसके स्थान पर राजा के प्रति उनमें पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो जायगी। परीक्षक कठोर होता ही है और क्षत्रिय से ब्राह्मण का पद प्राप्त करने पर भी उनमें अहंकार, कठोरता तथा शूर प्रतिभट के प्रति आदर दिखलाना अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है।

महारानी शैव्या तथा राजकुमार रोहिताश्व का चरित्र उन्हीं के अनुकूल चित्रित हुआ है। नाटककार ने सहज स्त्री-सुलभ संकोच, लज्जा, पति के प्रति दृढ़ विश्वास तथा श्रद्धा उनकी एक एक बात में भर कर रख दी है। पति ही पत्नी का सर्वस्व है, ऐसा मानते हुए भी वह अपनी शंका तथा अपनी सम्मति कह देना उचित समझती थीं। उपाध्याय से कहला कर महारानी के सौंदर्य, सौकुमार्य तथा शील प्रगट करते हुए तुम्हारे 'पति हैं न' प्रश्न ने सती स्त्री के सतीत्व को दमका दिया है। जिस पति के कारण वह एक महाराज की पुत्री और एक सम्राट् की पुत्रवधू होकर तथा अपने छोटे से पुत्र को लेकर, उस समय दासी होने जा रही थी, उसके प्रति उसका भाव क्या था, यह उसकी सौम्य मूक दृष्टि ही बतला रही है। पति की ओर देखकर नीचे दृष्टि कर लेने में कितना व्यथापूर्ण भाव है कि आज वह अपने ऐसे सर्व-

श्रेष्ठ रत्न को चिथड़े में रखा हुआ सब को दिखला रही है। पर रत्न रत्न ही है। इसके सिवा पुत्र-शोक पीड़िता शैव्या के सारे रोने कलपने को पढ़िए पर एक भी शब्द ऐसा न मिलेगा, जिससे उसका पति के प्रति अविश्वास या रोष का संदेह मात्र भी हो। श्मशान में चांडाल-दास पति के साथ उसका वही व्यवहार रहा जो राज्य सिंहासन सुशोभित सम्राट् पति के साथ था। महारानी शैव्या आदर्श स्त्री-रत्न थीं रोहिताश्व बालक था। उसका निज का चाहे कुछ भी आदर्श चरित्र न दिखलाया गया हो, पर उसी पर सत्य परीक्षा की अंतिम कसौटी कसी गई थी, जिसका कस विद्युत से भी बढ़ कर प्रज्वलित हो उठा था। यही बालक नाटक के करुण रस का स्रोत है और उसी पर की गई परीक्षा सदा सोने वाले आरामपसंद भगवान को मृत्युलोक तक खींच लाई थी।

सहायक पात्रों में इन्द्र और नारद ही मुख्य हैं। इन्द्र का स्वभाव वही दिखलाया गया है जो उनके लिये प्रायः प्रसिद्ध है, पर नारद जी का इसके विपरीत चित्रित किया गया है। वास्तव में वे पुराणों से कहाँ तक कलह प्रिय ज्ञात होते हैं, इस पर विशेष रूप से तो नहीं कह सकता, पर तब भी वे कहीं इस स्वभाव के मुझे नहीं मिले। वे विरक्त थे, इससे दक्ष की संतान को उल्टा उपदेश देकर वन में विदा कर दिया और स्वयं शापित होकर घूमने लगे। दुष्टों के संहार कराने में यह सदा दत्तचित्त रहते थे। संस्कृत साहित्य में, माघ आदि काव्यों में, ये ऋषिवत् ही चित्रित हैं; यद्यपि उनमें भी वे दुष्टों के नाश कराने ही के कार्य में लगे हुए वर्णित हैं। हिन्दी ही में जहाँ तक मैं समझता हूँ, झगड़ालुओं के लिये नारद नाम रूढ़ हुआ है। इस विचार से नारद जी का चित्रण ऋषिवत् करना ही उत्तम हुआ है, और उनसे इन्द्र को जो उपदेश दिलाया गया है वह बालकों के लिये उपयोगी है।

नारद जी सर्वदा हरिनाम जपते तथा भ्रमण करते हुए सभी स्थानों में जाया-आया करते थे पर वशिष्ठ जी से ऋषि को सिवा किसी खास काम के इन्द्र के पास जाना तथा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा और पक्ष-पात करना उचित न होता। इसके बाद विश्वामित्र के आने पर दोनों में साक्षात कराना भी ठीक न होता क्योंकि दोनों 'चांडाल याजिन्' के नाते उस समय परस्पर मित्र भाव नहीं रखते थे। अस्तु, नाटककार ने जो कुछ सोच कर ऐसा किया हो, वह उचित ही किया है।

चन्द्रावली नाटिका की नायिका श्रीमती चन्द्रावली जी निरीह प्रेम की पात्री हैं। इनका प्रेम विलक्षण है, जो अकथनीय तथा अकरणीय है। जहाँ प्रेम होता है वहाँ प्रेमपात्र में माहात्म्य का ज्ञान नहीं रह जाता और जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम प्रस्फुटित नहीं हो सकता। पर यह श्रीकृष्ण भगवान के माहात्म्य को अच्छी प्रकार जानकर भी उनमें पूर्ण आसक्ति रखती थीं। इनके प्रेम मे निस्पृहता बहुत बढ़ी हुई थी। यह प्रायः ऐसा देखा करती थीं, जिस पर इनकी सखी ललिता ने उक्ति की 'तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि आरसी में रैन दिन देखिबो करत है।' इस पर चंद्रावली जी उत्तर देती हैं कि 'नहीं सखी ! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान् मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा!' वह स्वयं चिरकाल तक विरह कष्ट सहन करने को तैयार हैं पर यह नहीं चाहतीं कि उसका प्रिय भी उससे वैसा ही प्रेम कर विरह की यातना भोगे। उसने स्वयं कितना कष्ट उठाया होगा यह उसके दो एक दिन के प्रलाप ही से समझ लीजिए। 'प्रेमियों के मंडल को पवित्र करने वाली' श्री चन्द्रावली जी के इसी चरित्र पर भक्त कवियों ने इन्हें श्री राधिका जी के समकक्ष मानते हुए कहा है —

राधा चन्द्रावली कृष्ण ब्रज यमुना गिरिवर मुखहि कहौ री।
जनम जनम यह कठिन प्रेम व्रत हरीचन्द्र इक रस निबहौ री ॥

'भारत दुर्दशा' में 'भारतदुर्दैव' पात्र प्रधान है और इसी ने भारत के नाश करने का पूरा प्रयत्न किया है। भारत की दुर्दशा का इतिहास भारत के परतंत्र होने के समय से आरम्भ होता है। मुसल्मानों के आक्रमणों से भारत का स्वातंत्र्य क्रमशः नष्ट हो चला था कि भारतीयों ने उसे पुनः अपनाना आरम्भ कर दिया पर उसी प्रयास-काल में यूरोपियन क्रिस्तानी जातियों ने व्यापार की आड़ में यहाँ आकर उसे पुनः परतंत्र कर दिया। यही कारण है कि 'भारतदुर्दैव' को अर्द्ध क्रिस्तानी तथा अर्ध मुसल्मानी वेष दिया गया है। इस पात्र का चित्रण अतीव सुन्दर हुआ है और इसमें देश की तत्कालीन दशा का पूरा ज्ञान हो जाता है। इसका प्रतिनायक 'भारत भाग्य' है। छठे अंक में उसने पहुँच कर भारत के प्रचीन गौरव का, वर्तमान समय की उसकी दुर्दशा का और उन्नति करने में भारतीयों की पंगुता का बड़ा ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया है। इस प्रतिनायक ने देशवासियों को जागने का बहुत प्रयत्न किया पर जब वे न जागे तब उसने नैराश्य में आकर आत्महत्या कर ली। आशावादी कह सकते हैं कि 'भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव' होना चाहिए था। वास्तव में नाटककार ने भी भारत भाग्य का अंत दिखलाकर सोए हुए भारत का नहीं, दर्शकों पर विशेष रूप से स्थायी प्रभाव डालने का प्रयत्न किया है। भारतीयों में क्या-क्या दुर्गुण आ गये थे, जिनके कारण वे इस प्रकार दुर्दशाग्रस्त हो गये थे, इनको 'भारतदुर्दैव' के प्रयत्नों के रूप में बड़ी मार्मिकता से दिखलाया है उसके सेनापति 'सत्यानाश' ने आकर धर्म की आड़ में होते हुए सामाजिक दोषों पर खूब चुनौतियाँ ली हैं। अपव्यय, कचहरी, फूट आदि दोष गिनाए गए, जो आज तक वर्तमान हैं। इसके अनंतर भारतदुर्दैव अपने अन्य

सैनिकों को भारत भेजता है। पहिले 'रोग' आता है। इसको लाने का मुख्य कारण भारतीयों की वह मूर्खता दिखलाना था जो बीमारी आने पर दवा इत्यादि न कर भूत-प्रेत पूजना, शुक्र-वार को फुँकवाना आदि ही अलं समझते थे और हैं। इसके अनंतर आलस्य आता है, जिसका चित्रण बहुत अच्छा हुआ है। यह हम भारतीयों का जीता-जागता नमूना है। मदिरा देवी के प्रभुत्व का वर्णन बहुत उचित हुआ है। अभी तक नशा की वस्तुओं पर रिकटिंग होती रही थी। इसके अनंतर अन्धकार भेजा गया। इस प्रकार बराबर प्रयत्नशील रहते हुए कर्मठ 'भारतदुर्दैव' सफल सा होता दिखलाया गया है। पाँचवें अंक में कुछ जागृति के लक्षण आशा रूप में दिखलाए गए हैं। पुस्तक, अखबार, कमीटी आदि उसके चिह्न हैं और भारतदुर्दैव के प्रयत्नों के निराकरण के उपाय सोचना भारतोदय का आशा करना है।

नीलदेवी में सूर्यदेव नायक तथा अब्दुश्शरीफ खाँ प्रतिना-यक हैं। पहिले का चित्र सच्चे राजपूत वीर सा खींचा गया है। वह धर्म-युद्ध वीर है। प्रतिनायक का चित्र भी ठीक है। वह शबखूँ अर्थात् रात्रि-आक्रमण में बहादुर है, अवसर का बंदा है। अन्त में वह इसी प्रकार के एक धावे में सूर्यदेव को क़ैद कर लेता है और वह वहीं कैद में मारा जाता है। एक पागल-मात्र मुस-लमानी पड़ाव में जाकर उनकी मृत्यु का पता लगाता है और उसी से राजा सूर्यदेव के पुत्र तथा धर्मपत्नी रानी नीलदेवी को सूचना मिलती है। कुमार सोमदेव अपने पिता के समान ही वीरता के साथ सम्मुख युद्ध की घोषणा करता है पर रानी नीलदेवी उसे इस कार्य से रोकती है। वह जानती है कि सम्मुख युद्ध में ये शत्रु से पार न पावेंगे और वह पति का बदला पाने तथा उनके शव के साथ जल सकने से वंचित रह जायगी। नाटककार ने

ऐसा उससे कहला भी दिया है। अंत में वह वीर नारी 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' नीति के अनुसार षड्यंत्र रचकर उसे मार डालती है। क्रूर आततायियों को उन्हीं के शस्त्रों से मार डालना प्रतिहिंसा नहीं है।

मौलिक अपूर्ण नाटकों में 'प्रेमयोगिनी' तथा 'सती सावित्री' हैं। प्रथम में काशी के अनेक प्रकार के लोगों की बोलचाल, स्वभाव आदि का परिचय दिया गया है। इसमें चरित्र-चित्रण करने का प्रयास विशेष नहीं है पर तब भी मन्दिर के साधारण दर्शन करने वाले बगुला भक्त, दलाल, गंगापुत्र, गुण्डे, भोजन-भट्ट ब्राह्मण आदि के चित्र उतारे गये हैं। इसमें रामचन्द्र नाम से अपने विषय में भी भारतेन्दु जी ने कुछ लिखा है। सती प्रताप में सती सावित्री नायिका यथा सत्यवान नायक है। दोनों में प्रेमांकुरण एक दूसरे को वन में देखने से होता है। दोनों ही मनसा एक दूसरे का वरण करते हैं। सावित्री की बातों से पति के प्रति पत्नी का धर्म बतलाया है तथा माता-पिता की आज्ञा भी मान्य बतलाई गई है। सखियों के योगी सत्यवान पर आक्षेप करते हुए अन्य राजकुमारों का उल्लेख करना सुन कर सावित्री का क्रोध दिखलाना सहज स्वाभाविक हुआ है, और उसका यह कथन कि 'निवृत्त करोगी? धर्म पथ से? सत्य प्रेम से? और इसी शरीर में?' कितना भावावेशपूर्ण है। नारद जी के कथन पर सत्यवान के पिता यह विवाह स्वीकार कर लेते हैं। बाद को सर्पदंशन से मृत्यु होने पर भी सावित्री अपने पातिव्रत-बल से उन्हें जिला लेती है।

इस प्रकार भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों के मुख्य मुख्य पात्रों के चरित्र-चित्रण की विवेचना करने से यह ज्ञात हो जाता है कि वे इस कला-प्रदर्शन में पूर्णतया सफल हुए हैं।

प्राकृतिक वर्णन की कमी

कवियों के विषय-क्षेत्रों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ कविगण ने केवल बाह्य-प्रकृति की वर्णना में अधिक प्रयास किया है और कुछ ने नर-प्रकृति तक ही अपनी कविता आबद्ध रखी है। कुछ ऐसे भी कवि हो गए हैं, जिनकी रुचि दोनों ही ओर एक समानरूप से थी। एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि कवि द्वारा बाह्य-प्रकृति का वैसा ही वर्णन होता है, जैसा उसके हृदय पर उस दृश्य के देखने से प्रभाव पड़ता है। एक ही दृश्य दो या अधिक हृदयों पर कई प्रकार का असर डालता है और वे उसी का कई प्रकार से वर्णन भी कर डालते हैं। इन वर्णनों से श्रोताओं के हृदयों में भी विभिन्न प्रकार के भाव उद्वेलित हो उठते हैं। तात्पर्य इतना ही है कि प्राकृतिक दृश्यों का काव्य-जगत् में जो विधान होता है वही है जो उन्हें देखकर कवियों के हृदय में खचित हो जाता है, जिससे भिन्न उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। नर-प्रकृति के अंतर्गत मानवी वृत्तियों के और मनुष्य ही के बनाये हुए प्राकृतिक दृष्यों के शोभादि से वर्णन आते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि प्रधानतः कविता के ये दो ही विषय-क्षेत्र हैं और इनमें विचरण करनेवाले कविगण दो कोटि में विभक्त किए जा सकते हैं। ऐसे कवियों का भी एक वर्ग होगा, जिन्होंने दोनों ही क्षेत्र को समान रूप से अपनाया है।

संस्कृत साहित्यकारों में, आज से एक सहस्र वर्ष पहिले के प्रकृति के प्रति जो भावुकता, प्रेम और तन्मयता थी वह बाद के कवियों में नहीं रह गई। आदिकवि वाल्मीकि ऋषि से आरम्भ हुई यह परम्परा कालिदास तथा भवभूति तक तो पहुँची, पर उसके बाद नरप्रकृति ही का प्राधान्य बढ़ता चला गया।

प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन गौण हो गया। इसका एक मुख्य कारण इतिहास यही बतला रहा है कि हम लोगों का वन्य जीवन का क्या, ग्रामीण जीवन तक का ह्रास होता गया और क्रमशः नागरिक जीवन ही बढ़ता गया। कविगण बड़े बड़े समृद्धशाली नगरों में बसने लगे और प्राकृतिक दृश्यों के देखने का उन्हें कम सौभाग्य मिलने लगा। ऐसी दशा में स्वभावतः एक विषय-क्षेत्र संकुचित हो गया और दूसरा विस्तृत हो उठा। निर्मल नदी की धारा के दोनो ओर फैले हुए जंगलों की शोभा के स्थान पर नगर के कृत्रिम जलाशय उद्यानादि ही की शोभा सब कुछ रह गई।

हिन्दी काव्य जगत् का निर्माण ठीक ऐसी ही परिस्थिति में हुआ था और इसी से उसमें वाल्मीकि आदि से कवि कम हुए। भारत का स्वातंत्र्य—सूर्य अस्त हो रहा था और कुछ वीरगण आशा की अंतिम ज्योति स्थिर रखने का निष्फल प्रयत्न कर रहे थे। उन्हीं वीरों की गाथाएँ बड़ी ओजस्विनी भाषा में कह कर मरे दिल को जिलाना ही उस समय कवियों का कार्य रह गया था। इसके अनंतर आशा-दिवस नैराश्य-यामिनी में बदल गया और परमाशा-रूपी ईश्वर की ओर सबकी दृष्टि फिरी। भक्ति काल के कविगण राम और कृष्ण की कथा लेकर अपनी वाणी पवित्र करने लगे। इन लोगों में वाह्यप्रकृति, ग्रामीण तथा नागरिक जीवन सभी के दृश्यों के वर्णन हैं पर इसी के बाद रीति काल आरम्भ हो जाता है, जिसके शृङ्गारी कवियों की कविता 'विषय सुख सिध्यैर्विषयिणाम्' ही की होने लगी। ऋतु, नदी, पर्वत आदि का वर्णन केवल उद्दीपन होने लगा। उनकी दृष्टि प्राकृतिक शोभा तक जाकर झट नायिका-नायक के वियोग की ओर लौट पड़ती थी। या यों कहा जाय कि वियोग-संयोग शृङ्गार का वर्णन करने में प्राकृतिक व्यापारों ने सहायता पाने के विचार से उन पर भी वे एक दृष्टि डाल लेते थे।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म नगर ही के एक भव्य भवन में हुआ था। उनका बाल्यकाल, यौवन तथा प्रौढ़ावस्था भी शहर ही में व्यतीत हुई थी। प्रकृति के यह कभी उपासक नहीं हुए। वन्य शोभा तो दूर इन्हें उद्यानादि का भी विशेष शौक न था। इनके पर्यटन के वृत्तान्तों को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि इनमें पहाड़, जंगल, नदी आदि की शोभा निरीक्षण करने की रुचि बहुत कम थी। यही कारण है कि इनकी कृतियों में शुद्ध प्राकृतिक वर्णनों की बहुत कमी है। सत्य हरिश्चन्द्र में जिस गंगा का वर्णन किया गया है, वह गंगा काशी के विशालकाय घाटों के नीचे बहती हुई गंगा है, जिसमें उसके सहस्रों भक्तगण पाप-प्रक्षालनार्थ अवगाहन कर रहे हैं। वनस्थलों के बीच में स्वच्छंद बहती हुई गंगा की जलधारा का वर्णन नहीं है। भारतेन्दु जी के गंगा जी के वर्णन में मनुष्य की कृति ही का उल्लेख अधिक है, देखिये—

> नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
> बिच बिच छहरति बूंद, मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
> लोल लहर लहि पवन, एक पैं इक इमि आवत।
> जिमि नर-गन मन बिबिध, मनोरथ करत मिटावत॥
> कहूँ बँधे नव घाट उच्च, गिरिवर सम सोहत।
> कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥
> मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी नर गावत।
> वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
> दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई।
> गंगा छबि 'हरिचन्द' कछू बरनी नहिं जाई॥

चंद्रावली नाटिका में भी ललिता सखी द्वारा यमुना जी का वर्णन नौ छप्पयों में कराया गया है पर उनमें उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों ही का आधिक्य है। वास्तव में भारतेन्दु जी यमुना

जी की प्राकृतिक शोभा ही का वर्णन नहीं कर रहे थे प्रत्युत् विरहिणी नायिका की एक सखी पर इस शोभा का असर पड़ रहा था वही दिखला रहे थे।

परत चन्द्र प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुं सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द्र जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो॥
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट आभा जल दिखरात है॥
कै जल उर हरि मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है॥

'प्रात समीरन' में सुबह की मंद मद बहती हुई वायु का वर्णन किया गया है। पर इसमें भी शहर ही में या उसके आस पास ही की बहने वाली हवा का वर्णन है। देखिए—

दिसा प्राची लाल करै कुमुदी लजाय होरी को खिलार सी पवन सुख पाय
भौंर शिष्य मंत्र पढ़ैं धर्म्मवंत, प्रात को अमीर आवै साधु को महंत॥
सौरभ को दान देत मुदित करत दाता बन्यो प्रात पौन देखी री चलत।
पातन कँपावै लेत पराग खिराज, आवत गुमान भरयौ समीरन राज

गीति-काव्य

गीतगोविंदकार जयदेव की सुधामयी गीतिकाव्य की जो परंपरा हिंदी साहित्य को मिली थी वह पहिले मैथिल कवि विद्यापति के कोकिल कंठ से आविर्भूत और ब्रज के भक्त सुकवियों की वीणाओं से निनादित होकर ऐसी फैली कि आज भी उसकी मधुर झनकार से भक्तों की हृत्तंत्री बज उठती है। इस गीति-काव्य का रस शृंगार ही रहा और इनमें सगुण उपासना की सरलता तथा तन्मयता ऐसी भरी है कि इसे सुनकर निर्गुण उपासना की ओर ऐसे ही कोई भूले-भटके झुकते हैं। रसराज के देवता श्रीकृष्ण ही की बाल्य-लीला तथा प्रेममयी यौवनलीला

के मनोहर चित्र इनमें अंकित होते आए हैं और होंगे। अष्टछाप के कवि-भक्तों ने भगवान की प्रेमलीला का कीर्तन कर जो सागर तैयार किए हैं उनमें अवगाहन कर प्रत्येक प्राणी पवित्र हो सकता है। यह पदावली इतनी प्रचुर है और वियोग तथा संयोग शृंगार और वात्सल्य दोनों ही क्षेत्र में इन लोगों की इतनी पहुँच थी कि बाद के कवियों के कहने के लिए इन लोगों ने कुछ न रख छोड़ा। यही कारण है कि इस परंपरा का सौर काल के बाद बहुत ह्रास रहा और कभी-कभी एकाध भक्त-कवि कुछ कहते सुनाई पड़ जाते थे। ऐसे कवियों का बाहुल्य न होने पर भी इस दिव्य प्रेम-संगीत की स्वर-लहरी सदा सरस हृदयों को तरंगित करती रहती थी।

इस गीतिकाव्य की परम्परा के प्रायः अंतिम कवि भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ही हुए हैं। इन्होंने लगभग डेढ़ सहस्र के पद बनाए हैं, जिनमें अधिकतर श्रीकृष्ण लीला सम्बन्धी हैं। इनमें विनय के पद, श्रीकृष्ण जी की बाल-लीला तथा गोपियों के प्रेम-सम्बन्धी तीन प्रकार के भजन हैं। कुछ साधारण मानव-सम्बंधी भी पद हैं। इन पदों के मुख्य रस शृंगार तथा वात्सल्य ही हैं पर वीर, शांति, करुण आदि रस भी कुछ पदों में आगए हैं। शृंगार में उसके संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्ष लिए गए हैं।

श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति का ध्यान कैसा अनुपम है, स्वामी तथा स्वामिनी दोनों ही की शोभा का कैसा सुन्दर मिश्रण इस पद में है—

रे मन करु नित-नित यह ध्यान।

सुन्दर रूप गौर श्यामल छबि जो नहिं होत बखान॥
मुकुट सीस चन्द्रिका बनी कनफूल सुकुण्डल कान।
कटि काछिनि सारी पग नूपुर बिछिया अनवट पान॥

मधुर मधुर अधरन बंसी धुनि तैसी ही मुसकानि।
दोउ नैनन रसभीनी चितवनि परम दया की खानि ॥

ऐसो अद्‌भुत भेष बिलोकत चकित होत सब आय।
'हरीचन्द' बिन जुगल कृपा यह लख्यो कौन पै जाय ॥

बाललीला का केवल एक पद लीजिए। छोटे से बालक श्री कृष्ण आँगन में खेल रहे हैं। उनके अंग प्रत्यंग की शोभा का वर्णन किया गया है, जिसमें उत्प्रेक्षादि अलंकार आप से आप प्रस्फुटित होते गए हैं।

आजु लख्यो आँगन में खेलत यशुदा जी को बारो री।
पीत झँगुलिया तनक चौतनी मन हरि लेत दुलारो री ॥ १ ॥

अति सुकुमार चन्द्र से मुख पै तनक डिठौना दीनो री।
मानहुँ श्याम कमल पै इक अलि बैठो है रँग भीनो री ॥ २ ॥

उर बघनहा बिराजत सखि री उपमा नहिं कहि आवै री।
मनु फूली अगस्त की कलिका शोभा अतिहि बढ़ावै री ॥ ३ ॥

कोटि कान अभिराम रूप लखि अपनो तनमन वारै री।
'हरीचन्द' ब्रजचन्द्र-चरण-रज लेत बलैया हारै री ॥४॥

श्री राधिका जी के अवतरित होने का कारण भक्तकवि प्रेम-पथ का प्रागट्य बतलाते हैं। यदि यह अवतीर्ण न होतीं तो पुष्टि मार्ग कौन स्थापित करता और श्रीकृष्ण के साथ रासमंडल के बीच कौन सुशोभित होता? सब से बढ़ कर 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' कवि महोदय किसकी शरण जाते? सुनिए—

जो पै श्री राधा रूप न धरतीं।
प्रेमपंथ जग प्रगट न होतो ब्रज-बनिता कहा करतीं ॥

पुष्टि मार्ग थापित को करतो ब्रज रहतो सब सूनो।
हरि लीला काके संग करते मंडल होतो ऊनो ॥

रास मध्य को रमतो हरि सँग रसिक सुकवि कह गाते।
'हरीचन्द' भव के भय सों भजि किहि के शरणहिं जाते॥

श्रीराधिकाजी की बालर्लीला-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए—

मनिमय आँगन प्यारी खेलैं।
किलकि किलकि हुलसत मनहीं मन गहि अंगुरी मुख मेलैं॥
बड़भागिन कीरति सी मैया मोहन लागी डोलै।
कबहुँक लै भुनभुना बजावति मीठी बतियन बोलै॥
अष्ट सिद्धि नव निधि जेहि दासी सो ब्रज शिशु-बपुधारी।
जोरी अविचल सदा विराजो 'हरीचन्द' बलिहारी॥

दोनों में प्रेम हो गया है। एक दिवस युगलप्रेमी एक स्थान पर विराजमान थे कि श्री स्वामिनी जी ने कहा कि वह गान एक बार फिर गा कर सुना दीजिये। 'मोहन चतुर सुजान' चूकने वाले न थे, उन्होंने ऐसा सनृत्य गान किया कि चन्द्र की गति भी रुक गई। सुनिए—

फिर लीजै वह तान अहो प्रिय फिर लीजै वह तान।
निनि धध पप मम गग रिरि सासा मोहन चतुर सुजान॥
उदित चन्द्र निर्मल नभमंडल थकि गए देव-विमान।
कुनित किंकिनी नूपुर बाजत भनभन शब्द महान॥
मोहे शिव ब्रह्मादिक वहि निशि नाचत लखि भगवान।
'हरीचन्द' राधामुख निरखत छूट्यो सुरतिय मान॥

भारतेन्दु जी ने विशेषतः प्रेमलीला ही का वर्णन किया है। दान, मान, विरह, मिलन आदि के एक से एक अच्छे पद कहे हैं। अंत में ब्रजलीला समाप्त करके श्रीकृष्ण भगवान मथुरा चले गए और गोपियाँ विरह-कातरा हो गईं, वे कहती हैं—

कहाँ गए मेरे बाल सनेही।
अबलौं फटी नाहिं यह छाती रही मिलन अब केही ॥
फेर अबै वह सुख धौं मिलिहै जिअत सोचि जिय एही।
'हरीचन्द' जो खबर सुनावै देहुँ प्रान धन तेही ॥

श्रीकृष्ण उपस्थित नहीं हैं पर उन्हें ध्यानावस्था में संबोधित करते हुये एक सखी कहती है कि—

पियारे तजी कौन से दोष।
इतनो हमहूँ तो सुनि पावैं फेरि करैं संतोष ॥
जो कोउ तुमरो होइ सोइ या जग मैं बहु दुख पावै ?
यह अपराध होइ तो भाखौ जासों धीरज आवै ॥
कियो और तो दोष कछू नहिं अपनी जान पियारे।
तुमरे ही ह्वै रहे जगत में एक प्रेम पन धारै ॥
यासों चतुर होइ जग मैं कोउ तुम सों प्रेम न लावै।
'हरीचंद' हम तो अब तुमरे करौ जोई मन भावै ॥

हिन्दी साहित्य में गोपी-उद्धव संवाद को लेकर बहुतेरी अनूठी-अनूठी उक्तियाँ कही गई हैं। यह घटना उस समय की है जब श्रीकृष्ण भगवान वृन्दावन से लोक-पीड़क, बाल-हत्याकारी, नृशंस कंस को मारने के लिए मथुरा चले आये थे, और वहीं रह गए थे। इन्होंने कुछ दिन अनंतर गोपियों को ज्ञान सिखलाने के लिए उद्धव जी को भेजा था। इस अमर घटना को लेकर कितने भ्रमरगीत निर्मित हुए हैं। इसी को लेकर भक्ति तथा ज्ञान मार्ग अर्थात् सगुण तथा निर्गुण उपासना पर भी कवियों तथा भक्तों ने खूब उक्तियाँ कही हैं। सभी में अंततः उपासना ही अधिक लोकप्रिय साबित हुई है। गोपियों की विजय जनसाधारण की साकार उपासना के प्रति विशेष श्रद्धा प्रकट करती है। उद्धव जी ज्ञानमार्ग के प्रकांड पंडित थे और उनकी हार ज्ञान-

मार्ग की गूढ़ता स्पष्ट करते हुए बतला रही है कि यह दुरूह तथा विरले ही लोगों के लिये है। एक सरस है और दूसरा नीरस। पहिली होमियोपैथी की मीठी गोली है और दूसरी है कषाय पर हैं दोनों ही लाभकारी। श्रीकृष्ण जी ने उद्धव ही को क्यों भेजा था, केवल इसीलिए कि उनका ज्ञानगर्व गोपियों के प्रेम की तल्लीनता तथा एकनिष्ठा और सरसता में मिट जाय। देखिए गोपियाँ कहती हैं—

पिय सों प्रीति लगी नहिं छूटै।
ऊधो चाहौ सो समझाओ अब तो नेह न टूटै॥
सुन्दर रूप छाँड़ि गीता को ज्ञान लेइ को कूटै।
'हरीचन्द' ऐसो को मूरख सुधा त्यागि विष लूटै॥

स्पष्ट उत्तर दे दिया गया है कि गीता का ज्ञान लेकर क्या किया जायगा। गीता गानेवाले की सौंदर्य-सुधा को छोड़कर कौन ऐसा मूर्ख है जो ज्ञानरूपी विष को लेगा। गोपियाँ कहती हैं—

जिन श्रवनन हरि बचन सुन्यौ ते मुद्रा कैसे पहिरैं।
जिन बेनिन हरि निज कर गूँथी जटा होइ ते क्यों बिखरैं॥
जिन अधरन हरि अमृत पियो अब ते ज्ञानहि कैसे उचरैं।
जिन नैनन हरि रूप बिलोक्यौ तिन्हैं मूँदि क्यों पलक परैं॥
जा हिय सों हरि हियो मिल्यौ है तहाँ ध्यान केहि भाँति धरैं।
'हरीचन्द' जा सेज रमे हरि तहाँ बघम्बर क्यों बितरैं॥

बतलाइये जिन जिन अंगों ने ऐसे ऐसे सुख लूटे हैं, उनसे अब दुख सहन हो सकता है। कितना स्वाभाविक कथन है। ज्ञान की केवल दुहाई देने से क्या उनका स्मृतिपट सूना हो सकता है? कभी नहीं। उस पर भी यदि दो चार मन, हृदय होते तो वह भी संभव था। तपस्वियों की तरह एक से योग और एक से भोग करते, पर वह भी तो नहीं है—

ऊधौ जौ अनेक मन होते।
तौ इक श्यामसुन्दर कों देते इकलै जोग सँजोते॥
ह्याँतो हुतो एक ही मन सो हरि लै गए चुराइ।
'हरीचन्द' कोऊ और खोजि कै जोग सिखावहु जाई॥

वियोग-पक्ष की दश दशाएँ बतलाई जाती हैं। उन सभी का भारतेन्दु जी की पदावली में समावेश हुआ है। प्रिय की अभिलाषा, चिंता तथा स्मरण करते-करते उनका चित्त बहकने लगता है, वे प्रलाप करने लगती हैं—

नखरा राह राह को नीको।
इत तो प्रान जात है तुव बिनु तुम न लखत दुख जी को॥
खुटाई पोरहि पोर भरी।
हमहिं छाँड़ि मधुबन में बैठे बरी कूर कुबरी॥

एक सखी कैसी मीठी चुटकी लेती है। साधारणतः पुरानी चीजें निकाल कर लोग नई लेते हैं। उसी नियम के अनुसार क्या श्रीकृष्ण भी पुरानी मित्रता त्याग अब नई मित्रता के फंदे में पड़ गए—

पुरानी परी लाल पहिचान।
अब हमको काहे को चीन्हौ प्यारे भए सयान॥
नई प्रीति नए चाहनवारे तुमहूँ नए सुजान।
'हरीचन्द' पै जाइ कहाँ हम लालन करहु बखान॥

स्मृति सुख और दुख दोनों की कारण होती है। प्रिय के वियोग में उसकी स्मृति दुखद ही होती है, इसीलिए वह दुखित हो कहती है—

पियारे क्यों तुम आवत याद।
छूटत सकल काज जग के सब मिटत भोग के स्वाद॥
जब लौं तुम्हरी याद रहै नहिं तब लौं हम सब लायक।

मरण के पहिले अंतिम दशा जड़ता आती है, उसमें अंगों तथा मन को चेष्टाहीन हो जाना चाहिए पर श्री राधिका जी की जड़ता वह तन्मयता है कि उन्हें वियोग का भान ही नहीं रह जाता, वह अपने ही को श्रीकृष्ण समझती हैं, वियोग हो तो किसका ?

लाल के रंग रँगी तू प्यारी ।
याही तें तन धारत मिस कै सदा कसूँभी सारी ॥
लाल अधर कर पद सब तेरे लाल तिलक सिर धारी ।
नैनन हूँ में डोरन के मिस झलकत लाल बिहारी ॥
तनमै भई, नहीं सुध तन की नख शिख तू गिरधारी ।
'हरीचन्द' जग बिदित भई यह प्रेम प्रतीति तिहारी ॥

खड़ी बोली तथा उर्दू कविता

इन दोनों भाषाओं की कविता की एक साथ आलोचना करने का यही कारण है कि इन दोनों का संबंध बहुत ही घनिष्ठ है। एक पक्ष वाले खड़ी बोली को उर्दू का उद्गम कहते हैं तो दूसरा पक्ष उर्दू से खड़ी बोली का निकलना बतला रहा है। इस पर तर्क वितर्क करने का न यह उपयुक्त स्थान है और न अवकाश ही है। इतना कहना अवश्य उचित है कि मुसलमान नवागंतुकों की भाषा तथा इस खड़ी बोली के मिश्रण से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई। इनमें से किसी को उर्दू का जनक कहना नितांत अशुद्ध है। साथ ही यह भी कहना उचित है कि जब से हिन्दू मुसलमान संघर्ष आरम्भ हुआ है तभी से दोनों धर्म के सहृदय पुरुषों ने एक दूसरे की भाषा को अपनाया। जिस प्रकार हिन्दी के कवियों ने फ़ारसी शब्दों को अपनी कविता में स्थान देना शुरू कर दिया

चूरन अमलबेद का भारी। जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम सलोना॥
हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम।
चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥

बीर बहूटी मखमली, बूटी सी अति लाल।
हरे गलीचे पै फिरे, सोभा बड़ी रसाल॥
छोड़ छोड़ मरजाद निज, बढ़े नदी नद नाल।
लगे नाचने मोर बन, बोले कीर मराल॥

कहाँ हो हे हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़ कर मुझको सिधारे॥
बुढ़ापे में मुझे यह देखना था।
इसी को भोगने को मैं बचा था॥

भारतेन्दु जी उर्दू के सच्च शायक थे। उर्दू की इनकी गद्य रचनाओं का उल्लेख हो चुका है। इन्होंने उर्दू भाषा में कविता भी काफ़ी की है और इनकी हिन्दी कविता पर इस उर्दू की जानकारी का जो असर पड़ा है वह भी उल्लिखित हो चुका है। भारतेन्दु जी का 'ताजीरात शौहर' उर्दू ही में है, जिसकी समालोचना में 'हिन्दुस्तानी लखनऊ' समाचार पत्र में लिखा गया था कि "मुसन्निफ़ ने एक ज़राफ़त के पैराए में वहमी औरतों का पूरा नक़शा खींच दिया है। यह दिल बहलाने का निहायत उमदा नुसखा है। हम बाबू साहिब से सिफ़ारिश करते हैं कि वह एक 'कानून औरत' का भी बना दें। जुर्माना और क़ैद दोनों शौहर के वास्ते बाबू सहिब ने निहायत उमदा तजवीज़ किया है। बाबू साहब की तसनीफ़ात और तालीफ़ात हिन्दी ज़ुबान में कसरत से हैं बल्कि अगर सच कहा जाय तो हिन्दी की तरक्क़ी आप ही से ख़याल करना चाहिए।"

उर्दू शैर या ग़ज़ल फ़ख़्रियः कहने का भी प्रथा है। भारतेन्दु जी ने भी इस प्रकार के कुछ शैर कहे हैं।

मज़ामीने बलंद अपनी पहुँच जायँगी गर्दूं तक।
बतर्ज़े नौ ज़मीं में शैर हम आबाद करते हैं॥
उड़ा लाए हो यह तर्ज़े सख़ुन किसके बताओ तो।
दमे तक़रीर गोया बाग़ में बुलबुल चहकते हैं॥
ज़रा देखो तो ऐ अहले-सख़ुन ज़ोरे सनाअत को।
नई बंदिश है मज़मूँ नूर के साँचे में ढलते हैं॥
'रसा' महवे-फ़साहत दोस्त क्या दुश्मन भी हैं सारे।
ज़माने में तेरे तर्ज़े सख़ुन की यादगारी है॥

भक्तकवि भारतेन्दु जी बड़े उदार विचारों के थे। इनमें धर्मांधता रत्ती भर भी नहीं थी और सभी धर्मों के उपदेशों को वे उसी 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' (श्री कृष्ण) समग्र विश्व के स्रष्टा को पाने का साधन समझते थे। वे कहते हैं—

तेरा दम भरते हैं हिन्दू अगर नाक़ूस बजता है।
तुझे ही शेख़ ने प्यारे अज़ाँ देकर पुकारा है॥
जो बुत पत्थर हैं तो काबः में क्या जुज़ख़ाक पत्थर है।
बहुत भूला है वह इस फ़र्क़ में सर जिसने मारा है॥
न होते जिलवःगर तुम तो यह गिरजा कब का गिर जाता।
निसारा को भी तो आख़िर तुम्हारा ही सहारा है॥
तुम्हारा नूर है हर शै में कह से कोह तक प्यारे।
इसी से कह के हर हर तुमको हिन्दू ने पुकारा है॥

और अंत में कहते हैं कि—

गुनह बख़्शो रसाई दो रसा को अपने क़दमों तक।
बुरा है या भला है जो कुछ है प्यारे तुम्हारा है॥

कैसी सीधी सीधी बातें हैं, जो दिल पर असर कर जाती हैं। कठहुज्जती भले ही कोई कर ले पर ऐसे कथनों को कोई काट नहीं सकता है। सब झगड़े की बात को सुलझाते हुए भी अन्त में यह कहना कि 'जो कुछ है तुम्हारा है' कितनी नम्रता तथा भक्ति-श्रद्धापूर्ण है।

कुछ कविगण आहो नाले वग़ैरह का कई तरह से वर्णन कर जाते हैं, पर उनका दिल पर असर नहीं होता क्योंकि उनमें उनका दिल ही नहीं रहता। वे केवल रूढ़ि परम्परा के अनुसार ऐसी शब्दावली भले ही प्रयुक्त करें और सुननेवाले भी सुन लें कि उसने ऐसे आह मारा, वैसे नाले उड़ाए, पर उन पर ऐसी खबरों का असर नहीं होता, वे उसके साथ समवेदना नहीं प्रगट कर सकते। परन्तु जब कवि कुछ ऐसी बात कहता है कि जिससे श्रोताओं के हृदयों पर चोट पहुँचती है तभी उनका कारुण्य उद्विग्न हो उठता है। कुछ शैर लीजिए—

बुरा हो इश्क़ का यह हाल है अब तेरी .फ़ुरक़त[१] में।
कि चश्मे ख़ूँचकाँ[२] से लख़्ते-दिल पै हम[३] निकलते हैं॥
.फ़ुग़ाँ करती है बुलबुल याद में गर गुल के ऐ गुलचीं[४]।
सदा[५] इक आह की आती है जब .ग़ुञ्चे चटकते हैं॥
कोई जाकर कहो यह आख़िरी पैग़ाम उस बुत से।
अरे आ जा अभी दम तन में बाक़ी है, सिसकते हैं॥

दोस्तो कौन मेरी तुरबत[६] पर।
रो रहा है 'रसा रसा' करके॥

अधिक दुःख पाने से मनुष्य चिड़चिड़ा हो उठता है, वह

---

[१]जुदाई, विरह। [२]जिससे रक्त टपक रहा है। [३]बराबर, सदा। [४]फूल चुननेवाला, माली। [५]आवाज़, शब्द। [६]क़ब्र, मज़ार।

हवा, काँटे वग़ैरह सभी से लड़ने-झगड़ने लगता है, कुछ उन्माद सा हो जाता है—

> उड़ा दूँगा रसा मैं धज्जियाँ दामाने सहरा[1] की।
> अबस[2] ख़ारे बियाबाँ मेरे दामन से अटकते।

अन्त में मृत्यु का समय आता मालूम होता है, उपदेशक कह उठा कि 'मूठी बाँधे आया साधो हाथ पसारे जाता है।' कवि उसी को अपनी ढंग से कहता है। पुष्प में सौंदर्य और सुगंधि है, वह वास्तव में नित्य है, आज खिला है, कल नहीं है। उसका मूल्य कुछ नहीं है पर अमूल्य है, ऐसे दो फूल भी चलते चलाते न ले जा सकने पर रञ्ज होना स्वाभाविक है, सब कुछ छोड़ चले पर तब भी,

> ले चले दो फूल भी इस बागे आलम से न हम।
> वक्त रेहलत[3] हैफ़ है ख़ाली ही दामाँ रह गया॥

भाषा-सौन्दर्य

हिन्दी साहित्य पर भारतेन्दु जी का जिस प्रकार प्रभाव पड़ा था उसी प्रकार हिन्दी काव्यभाषा पर भी पड़ा था। उनके समय तक के कविगण प्राचीन परंपरागत काव्य की जिस ब्रजभाषा को अपनाते चले आते थे, उसके बहुतेरे शब्दों को बोलचाल से उठे हुए शताब्दियों व्यतीत हो गए थे, पर वे उनके द्वारा व्यवहृत हो रहे थे। इसके सिवा अपभ्रंश-काल तक के कितने शब्द, जो किसी के द्वारा कहीं बोलचाल में प्रयुक्त नहीं होते थे वे भी बराबर कविता में लाए जा रहे थे। भारतेन्दु जी ने ऐसे पड़े सड़े शब्दों को बिलकुल निकाल बाहर किया और इस प्रकार काव्यभाषा को परिमार्जित कर उसे चलता

---

[1]जंगल। [2]व्यर्थ, फ़जूल। [3]महायात्रा, मृत्युकाल।

हुआ सरल और साफ़ रूप दिया। इस परिष्करण से जन-साधारण की बोलचाल की भाषा से काव्य की जो ब्रजभाषा दूर पड़ गई थी और जिसे समझना भी सुगम नहीं रह गया था, वह फिर अपने सीधे मार्ग पर आ गई। जो लोग ब्रजभाषा की दुरूहता से उससे दूर हटे जा रहे थे वे फिर उसे अपनाने लगे। इसके साथ अन्य रसों में कम और वीर तथा रौद्र रसों में अधिक शब्दों की जो पच्चीकारी की जाती थी, तोड़ मरोड़ होते थे और अंग भंग किए जाते थे तथा मनगढ़न्त शब्दों का प्रयोग हो रहा था, उस दोष को भी भारतेन्दु जी ने अपनी कविता में नहीं आने दिया और उससे अपनी भाषा को बचाए रखा। इस प्रकार इन्होंने अपनी भाषा को जो सुव्यवस्थित शिष्ट निखरा रूप दिया, उससे बाद के सभी सुकवियों ने लाभ उठाया है। भारतेन्दु जी के सवैयों तथा कवित्तों के सर्वप्रिय होने और उन्हीं के सामने ही उन सबके अत्यधिक प्रचलित हो जाने का एक प्रधान कारण भाषा का यह परिष्कार था।

कवि के हृदय से उठे हुए भाव को पूर्णरूप से व्यक्त कर देना जैसे भाषा का एक मुख्य गुण है, उसी प्रकार उसका दूसरा मुख्य गुण यह भी होना चाहिए कि वह उस भाव को ठीक-ठीक श्रोता या पाठक के हृदय में उसी तरह झटपट पहुँचा दे। साथ ही यदि यह भाव-व्यक्तीकरण प्रसाद-पूर्ण होते हुए सरलता के साथ थोड़े शब्दों में हुआ हो तो सोने में सुगंध का कार्य कर देता है। इसके सिवा काव्य की भाषा में सौकुमार्य भी होना चाहिए। वर्णनशक्ति सरल होनी चाहिए और वह भी जितने ही स्वाभाविक ढंग से, बड़े परिश्रम तथा प्रयास से न गढ़ी जाकर, होगी उतनी ही वह लोकप्रिय होगी। काव्य-धारा जितनी सरलता से बहेगी उतनी ही वह सुन्दर, निर्मल तथा कलकल निनादमय होगी और यदि उसका प्रवाह अस्वाभाविक रुकावटों से सरल न

हुआ तो वह असुन्दर, गँदली तथा खड़खड़ाती गर्जन-तर्जन पूर्ण होगी।

भाषा का एक यह गुण भी सफल कवियों में होना परमावश्यक है कि उनकी भाषा समान रूप से अनेक प्रकार के भावों को व्यक्त कर सके। एक पद में यदि दो तीन भाव आ गए हैं और कवि सबको समान भाषा में व्यक्त नहीं कर सका है तो वह उस पदरचना में सफल नहीं हुआ है। उसका वह कार्य अच्छे वस्त्र में दरिद्र पैबंद लगाने के समान है। भाषा में काव्यप्रवाह के अनुकूल ही चलन की शक्ति होनी चाहिये। जिस कवि की भाषा में आप से आप अलंकारों का प्रस्फुटन होता रहता है, उसी की भाषा भाषाओं की अलंकार है। जब अलंकारों के लिये ही कविता की जाती है तब उसकी भाषा में स्वाभाविकता नहीं रह जाती। अलंकार शोभा बढ़ाने के लिये लाने चाहिएँ, न कि उनके बोझ से भाषा को बेदम निर्जीव कर डालने के लिये।

भारतेन्दु जी की भाषा में स्वच्छंदता तथा सजीवता विशेष रूप से पाई जाती है और वह उनकी प्रकृति के अनुकूल ही है। इसी स्वभाव के कारण इनके हृदय में जो भाव उठते थे, उनका बहुत ही मनोरंजक रूप में वर्णन होता था। उर्दू—काव्य ग्रन्थों का भी भारतेन्दु जी ने मनन किया था और उर्दू में कविता भी करते थे। यही कारण है कि उस भाषा की जिंदःदिली इनकी भाषा में अधिक व्याप्त हो गई है। इस प्रकार से जब सजीव भाषा की सुष्ठु-योजना की जाती है तब कविता में जान पड़ती है और कवि तथा पाठक दोनों ही उस पर मुग्ध हो जाते हैं।

भाषा पर भारतेन्दु जी का अधिकार भी ख़ूब बढ़ा-चढ़ा हुआ था। इनकी प्रायः सभी कविता ब्रजभाषा में है। इनकी भाषा में मुहाविरों का बहुत प्रयोग है। लोकोक्तियों तथा व्यंग्योक्तियों को भी इन्होंने सुचारु रूप से प्रयुक्त किया है।

'निरंकुशाः कवयः' होते हैं पर इन्होंने अपनी भाषा को कहीं नियम—विरुद्ध तथा शिथिल नहीं होने दिया। भर्ती के शब्द कविता में नहीं लाये ह। भाषा को सुव्यवस्थित करने का तो इन्होंने बीड़ा ही उठाया था, तब वे अपनी भाषा को कैसे अव्यवस्थित होने देते। अब कुछ अवतरण देकर पूर्वोक्त बातों विचार किया जाय।

सोई तिया अरसाय के सेज पै सो छबि लाल बिचारत ही रहे।
पोंछि रुमालन सों श्रम सीकर भौंरन को निरुवारत ही रहे॥
त्यों छबि देखिबे को मुख तें अलकैं 'हरिचंद' जू टारत ही रहे।
द्वैक घरी लौं जके से खरे बृषभानु-कुमारी निहारत ही रहे॥

कैसा सुन्दर चित्र इन मनोहर शब्दों में चित्रित है। सोई हुई बृषभानुनंदिनी की छबि को किस प्रकार श्रीकृष्ण जी जके हुए खड़े देख रहे हैं, इस भाव को ऐसी सरलता से कह दिया गया है कि सुनने या पढ़ने वाले के हृदय में वह आप ही खचित हो जाता है। भाव के अनुकूल ही शब्द इस प्रकार आप से आप बिना लेश मात्र प्रयास के चले आए हैं कि प्रवाह में कहीं भी कुछ रुकावट नहीं है। शब्दों की सुकुमारता के लिए कहना ही क्या? थकावट की छबि पर विचार रूमाल से पसीना पोंछना, भौंरों को दूर करना, बालों को हटाना और जके से होकर मुख-छबि देखते रहना, इन भावों को कवि ने बड़ी कुशलता से एक पद में वर्णन किया है, पर सभी एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए अंत तक चले आए हैं कि कहीं भी भाषा में बेमेलपन नहीं आया है। पूरा वर्णन भी कितना स्वाभाविक है और पूरे छन्द में स्वभावोक्ति अलंकार का प्रस्फुटन आप से आप हो गया है।

लोकोक्ति

भारतेन्दु जी कविता में नित्य के बोलचाल की कहावतों का

बहुत ही अच्छा प्रयोग करते थे और इससे कविता के भावों की खूब पुष्टि होती थी। जिस प्रकार प्रत्येक जीव के लिये जन्म-मरण निश्चित है उसी प्रकार सुख दुःख भी दोनों प्रत्येक जीव के भाग्य में लिखा रहता है। किसी को सुख अधिक है तो किसी को दुःख। इसका समाधान करने के लिए कितना भी तर्क-वितर्क किया जाय पर यह कमी तथा आधिक्य है और रहेगा। कृष्ण जी के मथुरा-गमन पर गोपिकाएँ जब सुनती हैं कि उन्होंने कुब्जा पर अपना प्रेम प्रदर्शित किया है, तब वे सोचती हैं कि क्या कुब्जा संसारोपरि है और मथुरा क्या मिट्टी पत्थर की भूमि नहीं है जो कृष्ण वहाँ रम गये हैं। अंत में कुछ न समझ पड़ने पर वे कहती हैं कि कुछ नहीं यह सब भाग्याधीन है।

कुबजा जग के कहा बाहर है नन्दलाल ने जा उर हाथ धरयो।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय कै प्यारे निवास करयो॥
'हरिचन्द' न काहू को दोष कछू मिलिहैं सोइ भाग में जो उतरयौ।
सबको जहाँ भोग मिल्यौ तहाँ हाय बियोग हमारे ही बाँटे परयौ॥

साथ ही ये गोपिकाएँ समझती भी थीं कि मोहन को निर्मोही जानते हुए भी जो हम लोगों ने उससे प्रेम करने की भूल की है वही हमारे गले आ पड़ी है।

यामैं न और को दोष कछू सखि चूक हमारी हमारे गलें परी।

और हमने उन्हें भला आदमी सुजान समझा था, जानती थीं कि वे ऐसे हैं, नहीं तो—

जानि सुजान मैं प्रीति करी सहि कै जग की बहु भाँति हँसाई।
त्यों 'हरिचन्द जू' जो कह्यौ सो करयौ चुप ह्वै करि कोटि उपाई॥
सोऊ नहीं निबही उनसों उन तोरत बार कछू ना लगाई।
साँची भई कहनावति वा अरी ऊँची दुकान की फीकी मिठाई॥

प्रेम भी बिचारा ऐसा दो के बीच में पड़ा है कि कुछ कहने

को नहीं। प्रतिक्षण मिलना होता रहे तभी ठीक है, नहीं तो कभी एक पक्ष की विरहाग्नि प्रबल, कभी दूसरे पक्ष की। इसी प्रेम में दग्ध होकर सखी अपने आप को कोस रही है।

जानति हौं सब मोहन के गुन तौ पुनि प्रेम कहा लगि कीनो।
त्यों 'हरिचन्द जू' त्यागि सबै चित मोहन के रस रूप में भीनो॥
तोरि दई उन प्रीति उतै अपवाद इतै जग को हम लीनो।
हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आप कुठार मैं दीनो॥

इस प्रकार अपने को कोसती हुई इस विरहिणी की दशा की दूसरी सखी उसके प्रलाप का भी कथन करते हुए यों वर्णन करती है—

घेरि घेरि घन आए छाय रहे चहूँ ओर कौन हेत प्राननाथ सुरति बिसारी है।
दामिनी दमक जैसी जुगुनू चमक तैसी नभ मैं बिशाल बगपंगति सँवारी है।
ऐसी समय 'हरिचंद' धीर ना धरत नेकु बिरह बिथातें होतव्याकुल पिआरी है।
प्रीतम पिआरे नन्दलाल बिनु हाय यह सावनकी रात किधौंद्रौपदी कीसारी है।

इस प्रकार विकल नायिका को उसकी सखियाँ समझाने लगती हैं तो वह उन्हें कैसा उपालंभ देती है—

पहिले बहु भाँति भरोसो दियो अब ही हम लाइ मिलावती हैं।
'हरिचन्द' भरोसे रही उनके सखियाँ जे हमारी कहावती हैं॥
अब वेई जुदा ह्वै रहीं हम सों उलटो मिलि कै समुझावती हैं।
पहिले तो लगाइ के आग अरी जल को अब आपुहि धावती हैं॥

खैर किसी प्रकार सखियाँ जब नायक को समझा-बुझाकर सीधा करती हैं तब वही प्रेम इस विरहिणी को मानिनी बना देता है। सखी कहती है—

प्रानपियारे तिहारे लिए सखि बैठे हैं देर सों मालती के तर॥
तू रही बातैं बनाय बनाय मिलै न बृथा गहि कै कर सों कर।
तोहि घरी छिन बीतत है 'हरिचन्द' उतै जुग सो पलहु भर॥
तेरी तो हाँसी उतै नहिं धीरज नौ घरी भद्रा घरी में जरै घर।

अंत में मानिनी भी मान जाती है और प्रीतम से मिलती है। मान द्रवित होकर करुणरस में परिवर्तित हो जाता है। नायिका प्रीतम से जो प्रार्थना करती है उनके एक एक अक्षर में उसका हृदयस्थ प्रेम उच्छलित होता ज्ञात हो रहा है—

तुम्हरे तुम्हरे सब कोऊ कहैं तुम्हैं सो कहा प्यारे सुनात नहीं।
विरुदावली आपुरी राखौ मिलौ मोहिं सोचिबे की कोऊ बात नहीं॥
'हरिचन्द जू' होनी हुती सो भई इन बातन सों कछु हाथ नहीं।
अपुनावते सोच बिचारि तबै जलपान कै पूछनी जात नहीं॥

इनके सिवा भी अनेक ऐसी लोकोक्तियों की बराबर सुष्ठु योजना इनके पदों में रही है। गद्य में, मुख्यतः नाटकों में, भी ऐसी योजना बहुत है।

अनुवाद

अनुवाद करना जितना सुगम समझा जाता है वैसा वास्तव में नहीं है। यह जब गद्य के लिए कहा जा सकता है तब पद्य का पद्यानुवाद करना तो अवश्य ही दुरुह है। मौलिक रचना से भी वह अधिक कष्टसाध्य है। अन्य कवि के भाव को उसी प्रकार सरस शैली में व्यक्ति कर देना उससे श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उसके समकक्ष कवि ही के लिए साध्य है। भारतेन्दु जी ने विशेषतः संस्कृत ही से अनुवाद लिए है, केवल एक दुर्लभ बन्धु अंगरेजी नाटक का अनुवाद है; इनके अनुवादों में मौलिक ग्रंथों ही का आस्वादन मिलता है।

गीतगोविन्दकार जयदेव जी की कविता के लालित्य और प्रसाद गुण से संस्कृत का कौन प्रेमी परिचित नहीं है। संगीत-प्रेमियों को भी इनकी रचना से जो आनन्द मिलता है वह किसी दूसरे कवि की रचना से नहीं मिलता। इसी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीत-गोविन्द की अष्टपदी का गीत-गोविन्दानन्द' नाम

से भारतेन्दु जी ने अनुवाद किया है। इसके विषय में एक समालोचन लिखते हैं, भारतेन्दु जी के अनुवाद में जो सरलता और सुन्दरता है वह अन्य अनुवादों में नहीं। आपके अनुवाद में संगीत का मजा भी फीका नहीं होने पाता वरन् व्रजभाषा में होने के कारण मौलिक ग्रंथ से टक्कर लेता है। गीतगोविन्द का एक उदाहरण लीजिए। मंगलाचरण का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

मेघैर्मेदुरमंबरंवनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः।
नक्तं भीरुरयं त्वमेवतदिमंराधेगृहं प्रापय॥
इत्थंनंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्व कुञ्जद्रुमं।
राधामाधवयोर्जयंति यमुनाकूले रहः केलयः॥

भारतेन्दु जा ने एक सवैये म इसका अनुवाद किया है जिसके पढ़ने से साफ मालूम होता है कि इसमें अनुवाद करने का लेशमात्र प्रयास नहीं है। भाषा कितनी मधुर है और मूलकवि क सभी भाव आ गए हैं।

मेघन सों नभ छाइ रहे। बन भूमि तमालन सों भई कारी।
साँझ भई डरिहै घर याहि दया करिकै पहुँचावहु प्यारी॥
यों सुनि नन्द निदेस चले दोउ कुञ्जन में हरि भानु-दुलारी।
सोई कलिन्दी के कूल इकन्त की केलि हरै भवभीति हमारी॥

महाकवि विशाखदत्त-कृत मुद्राराक्षस नाटक का आपका अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है। उसका भी एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में महादेव जी के गंगा जी के छिपाने क प्रयास का वर्णन है—

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला; किन्तु नामैतदस्या ?
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं; कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥

(अनुवाद, सवैया)

'कौन है सीस पै ?' 'चन्द्रकला', कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी' ?
'हाँ यही नाम है भूल गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी'
'नारिहि पूछत चन्द्रहि नाहिं', 'कहै विजया जदि चन्द्र लबारी'।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी ॥

पूर्वोक्त उद्धरणों के पढ़ने से उनमें अनुवाद की गंध तक नहीं आती प्रत्युत् मूल सा आनन्द मिलता है। इस प्रकार सहज ही मूल के समान अनुवाद कर डालने का मुख्य कारण भारतेन्दुजी की जन्मसिद्ध काव्य-प्रतिभा था। अनुवाद करने में वे इतने कुशल थे और उसे मूल में इस प्रकार मिला देते थे कि पाठकों को भ्रम हो जाता है कि दो में कौन बढ़कर है। अंग्रेजी के अनुवाद 'दुर्लभ बंधु' का उल्लेख हो चुका है। इसके पात्रों के नामों का अनुवाद ही, जो वास्तव में इन्हीं का किया हुआ है, अति सुन्दर हुआ है। पोर्शिया का पुरश्री, जेसिका का यशोदा, ऐन्टानिया का अनन्त आदि नामकरण किए गए हैं, यह सब भारतेन्दु जी की सजीवता ही का फल है।

नवीन रस

सहृदय पुरुषों के हृदय में रति-शोक आदि अनेक भाव स्थायी रूप से पाये जाते हैं, जिनका वे बराबर अनुभव किया करते हैं, कभी वे किसी से प्रेम करते हैं, किसी पर क्रोध प्रकाश करते हैं, किसी अद्भुत वस्तु को देखकर चकित होते हैं या किसी के लिए शोक करते हैं। इस प्रकार के बहुत से भाव क्रमशः उनके हृदय में वासना रूप से स्थित हो जाते हैं जो अवलंबन पाते ही प्रस्फुटित हो सकते हैं। ऐसे भाव, जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति हो जाते हैं, स्थायी कहलाने लगते हैं। ये 'विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणः तथा। रसतामेति' अर्थात् आलंबन-उद्दीपन

विभाव द्वारा प्रस्फुटित और उद्दीप्त होने पर कटाक्षादि अनुभावों तथा ग्लानि आदि संचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त होते हैं। रति शोक, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय जुगुप्सा और निर्वेद नव स्थायी भाव हैं, जिनके अभिव्यक्त होने पर शृङ्गार, करुणा, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स तथा शांत रसों के परिपाक हो जाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि इनमें से एक शांत रस नाटक में नहीं आ सकता। 'शांतस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्' अर्थात् नट में शांति असंभव है। पर यह कथन ठीक नहीं है। जो नट अभी क्रोध और तुरन्त ही बाद को (परदा बदलने ही के फेर में) हास्य दिखला सकता है, वह शांत क्यों नहीं हो सकता? यदि वह समाधिस्थ तपस्वी का स्वाँग धारण किए हुए है तो वह क्या बन्दर की चंचलता दिखलावे ही गा। वह अभिनेता है, उसे तो सभी प्रकार के भावों का, बिना स्वयं उसे अनुभव किये, इस प्रकार स्वांग दिखलाना है कि दर्शकगण पर उनका ठीक और सत्य प्रभाव पड़ जाय। यदि वह स्वयं क्रोध, प्रेम आदि के फन्दे में पड़ जायगा, तो अभिनय का उसे ध्यान ही कहाँ रह जायगा।

पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में 'अथ कथमेत एव रसाः' कहकर रसों के केवल नौ ही होने अर्थात् उससे अधिक न होने की चर्चा चलाई है। भक्ति को एक स्थायी भाव मानकर तर्क किया है। पूर्वाचार्यों का मत 'रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी' कह कर तथा 'भरतादि मुनि वचनानामेवात्र रसभावत्वादि व्यवस्थापकत्व' मानकर चुप रह गये हैं। वात्सल्य प्रेम का भी उल्लेख मात्र इन्होंने किया है पर अन्य कोई रस माना नहीं है। इनके अनन्तर संस्कृत में शृङ्गार-रत्नाकर नामक एक ग्रन्थ काशिराज की आज्ञा से निर्मित होकर सन् १९१९ वि० में

प्रकाशित हुआ था। इसके रचयिता प्रसिद्ध विद्वान पं० ताराचरण तर्करत्न थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है—

हरिश्चन्द्रांस्तु वात्सल्यसख्यभक्त्यानंदाख्यमधिकं रसचतुष्टयं मन्यते। उक्त ग्रन्थ के प्रकाशित होते समय भारतेन्दु जी की अवस्था बारह वर्ष की थी पर उसी अवस्था में अकाट्य तर्कों को सुनकर उक्त पंडित जी को इनकी सम्मति भी अपने ग्रन्थ में लिखनी पड़ी थी। सं० १९४० वि० में लिखे गये 'नाटक' पुस्तक में भारतेन्दु जी ने शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, अद्भुत वीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य और प्रमोद वा आनंद चौदह रस लिखे हैं। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने पाँच नए रसों की कल्पना की है।

शृङ्गार रस रसराज है क्योंकि इसका स्थायी भाव प्रेम है। प्रेम की महत्ता अन्यत्र भी कुछ लिखी गई है पर यहाँ इतना ही कहना अलं है कि इस प्रेम ही से सृष्टि बनी हुई है और इन नवों रसों का मूलमंत्र भी यही प्रेम है। शृङ्गार के दो भेद हैं— संयोग और वियोग। भारतेन्दु जी ने दोनों ही पर कविता की है और बहुत की है। इनके शृङ्गार रस के कवित्त सवैये अत्यंत रसावह तथा हृदयस्पर्शी होते थे। यहाँ दो उदाहरण दिए जा सकते हैं।

१—सिसुताई अजौं न गई तन तें तउ जोबन-जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी॥

देखिए बिहारी के 'संक्रोन कात्त' की नायिका का कैसे मनो-रंजक चित्र-सा खिंच गया है। शिशुताई, लड़कपन, अभी नहीं गई है पर यौवन का आगम आरंभ हो गया है। पति का नाम सुनते ही भौंहें तिरछी हो जाती हैं और गुरुजनों से बचाकर

तथा पति से भी छिपा कर घूँघट से उसकी ओर देखने लगी है। दो ही दिन से मुग्धा बाला के अंग ऐसे उमड़ रहे हैं मानों अमृत बरस रहा है। यहाँ अभी प्रेम का अंकुरण हो रहा है। आलंबन नायक नायिका दृग जोर रहे हैं और एक दूसरे के विषय की बातें सुनते हैं, जिससे उनके प्रेम को उद्दीप्ति मिलती है। भौंह मरोरना और आँखें बचाकर देखना अनुभावों से स्थायी भाव रति के पुष्ट होने पर शृङ्गार रस का परिपाक हो जाता है।

२—मनमोहन तैं बिछुरी जब सों, तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचन्द जू' प्रेम के फंद परी कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥
दुख के दिन को कोउ भाँति बितै, बिरहागम रैन संजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी, निसि सोवती है किधौं रोवती हैं॥

विरहिणी अपनी दशा का सखी से वर्णन कर रही है। कितनी सादगी से वह अपना दुख कह गई है और इसका सहृदयों पर कितना असर पड़ता है, यह सहृदय ही समझ सकते हैं। ठीक ही कहती है कि 'हम हीं अपनी दशा जानैं सखी।' विप्रलंभ शृंगार का यह अतिसुन्दर उदाहरण है।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह भी अमूल्य वस्तु है। इसके मुख्यतः चार भेद कहे गए हैं—युद्ध, धर्म, दान तथा दया। कर्मवीर, सत्यवीर आदि भी कुछ भेद माने जाते हैं। इस रस के आलंबन नायक और प्रतिनायक होते हैं। प्रतिनायक या दानपात्र आदि की चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव हैं। युद्ध-दान-सत्य व्रतपालन आदि के सहायक कार्य अनुभाव हैं। वीर रस का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

१—सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदा हीं।
जागत ही सब रहैं रैन हूँ सोअहिं नाहीं॥
कसे रहैं कटि रात-दिवस सब वीर हमारे।
अस्वपीठ सों होहिं चारजामें जिनि न्यारे॥

दैहैं रन को स्वाद तुरन्तहि तिनहिं चखाई।
जो पै इक छनहू सनमुख ह्वै करहिं लराई॥

इन पंक्तियों के एक-एक शब्द से उत्साह छलका पड़ता है, जो स्थायी भाव है। राजा नायक तथा यवन आक्रमणकारी प्रतिनायक है। युद्ध में शत्रु को परास्त करने की चेष्टा उद्दीपन है। शस्त्र लिये हुए सैनिकों को युद्धार्थ तैयार रखना अनुभाव है। गर्व, धैर्य आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार युद्ध वीर रस का पूर्णरूपेण परिपाक इन पदों में हुआ है। वीर रस की कविता में शब्दों को तोड़ मरोड़ कर और दो-दो तीन-तीन अक्षरों को एक में कूट कर एक बार डालना तथा ट-वर्ग का खूब उपयोग करना प्रधान लक्षण माना गया था, पर भारतेन्दु जी ने यह सब खड्ड बड्ड अकार्य न कर भी उद्धृत पदों को वीर रस से परिप्लुत कर डाला है। इन्हें सुनकर केवल कानों ही तक कटु उत्साह नहीं रह जाता वरन् हृदय तक पहुँच कर श्रोताओं का उत्साह से भर देता है।

हास्य रस का स्थायी भाव हास है। जिस विकृत आकार, वाणी, वेप तथा चेष्टा को देख कर लोग हँसें वही आलंबन और उसकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव हैं। आँखों का खिल उठना, मुस्किराना, हँसना आदि अनुभाव हैं और निद्रा, आलस्य आदि संचारी भाव होते हैं। हास्य के छः भेद स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, तथा अविहसित हँसने के छः भेदों के अनुसार होते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

१—जोर किया जोर किया जोर किया रे!
आज तो मैंने नशा जोर किया रे।
साँझहि से हम पीने बैठे, पीते पीते भोर किया रे।

उपर्युक्त गाना विकृत आकार, वाणी तथा चेष्टा वालों द्वारा पागलपन में हँसने की सी चेष्टा करते हुए गाया जा रहा

है। इसे सुनने से कोरी हँसी आती है और इसमें हास्य रस है।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। जिस इष्ट के नाश के कारण शोक हो रहा है, वही आलंबन है। उसके शव को देखना, उसका संस्कार करना आदि उद्दीपन विभाव हैं। अपने कर्म को कोसना, रोना, प्रलाप आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मोह, ग्लानि, स्मृति, उन्माद आदि व्यभिचारी हैं। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक में करुण रस विशेष रूप से आया है, उसी से एक छोटा सा अवतरण दिया जाता है—

जाकी आयसु जग नृपति सुनतहि धारत सीस।
तेहि द्विज बटु आज्ञा करत अहह कठिन अति ईस॥

यहाँ राजा हरिश्चन्द्र स्वपत्नी के कष्टों का अनुभव करके दैव की निंदा कर रहे हैं। दुःखी महारानी शैव्या आलंबन, उनके कष्ट उद्दीपन तथा कर्म को कोसना अनुभाव हैं। स्मृति, ग्लानि आदि इसके व्यभिचारी हैं। राजा हरिश्चन्द्र को पुनः रानी से मिलने तथा उनके कष्टों को दूर कर पुनः महारानी बनाने की रत्ती भर आशा नहीं है, इसलिए यहाँ करुण रस ही है। यदि कुछ भी मिलने की आशा होती तो यहाँ करुण रस न होकर करुण विप्रलंभ शृंगार हो जाता है।

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। शत्रु आलंबन तथा मुक्का चलाना, मार काट करना, युद्ध के लिये घबड़ाना आदि चेष्टाएँ उद्दीपन हैं। क्रोध से ओंठ चबाना, आँखें लाल करना, उग्रता आदि अनुभाव हैं। आक्षेप, व्यंग्य, घूरना, अमर्ष, मोह आदि संचारी हैं। एक उदाहरण लीजिये—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुस्सासन केरो।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो॥
ताही कर सों कृष्णा की बेनी बँधवाई।
भीमसेन ही सो बदलो लैहै चुकवाई॥

इसमें दुश्शासन आलम्बन है और उसे मार कर उसका रक्त-पान तथा उस रक्त से द्रौपदी के वेणी बँधवाने के लिए घबड़ाहट उद्दीपन है। क्रोध से हाथ पैर चलाते हुए कहना अनुभाव है और इधर-उधर घूरना, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं।

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। भय का कारण आलंबन, भयोत्पादक चेष्टाएँ उद्दीपन और विवर्णता, मूर्छा, कंप आदि अनुभाव होते हैं। त्रास, आवेग, शंका आदि व्यभिचारी भाव हैं। देखिए—

रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि के नर-नारी।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी॥
अंधकार बस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपाईं।
सँग दादुर झींगुर रुदन-धुनि, मिलि स्वर तुमुल मचावईं॥

इस अवतरण में भयोत्पादक वस्तु अनेक हैं और ररना, फटफटाना आदि कई उद्दीप्ति-कारक कार्य हो रहे हैं। हृदय में कंप उठना, विवर्ण होना अनुभाव हैं। इन सब के होने से भयानक रस पूर्ण रूप से इस पद में व्याप्त है।

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, घृणोत्पादक वस्तु आलंबन, घृणित वस्तु के अत्यधिक घृणित होने वाले कार्य उद्दीपन, घृणा से मुख फेर कर थूकना आदि अनुभाव और आवेग, मोह आदि संचारी हैं। एक उदाहरण दिया जाता है।

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै माँस उचारत॥
स्वान आँगुरिन काटि काटि के खान बिचारत।

कहुँ चील नोचि लै जात तुच मोह बढ़्यो सबको हियो ।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आज भिखारिन कहँ दियो ।

आलंबन शव को देख कर स्थायी भाव जुगुप्सा उद्बुद्ध हो उठती है। शरीर की दुर्दशा देख कर उसकी उद्दीप्ति होती है। मुख फेर लेना अर्थात् विचारों को उस ओर से हटाकर दूसरी ओर ले जाना अनुभाव है। मोह संचारी है।

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है, आलंबन आश्चर्य-जनक वस्तु है, और उद्दीपन अलौकिकता का वर्णन है, अनुभाव स्तंभ, स्वेद, रोमांच आदि हैं और भ्रांति, हर्ष आदि संचारी हैं। उदाहरण लीजिए—

चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय ।
पै बीरन के मन कबहुँ चलहिं नहीं ललचाय ॥

'सत्य-हरिश्चन्द्र' में जब कापालिक रूप में धर्म ने राजा हरिश्चन्द्र को रसेन्द्र देना चाहा था तब उनके इस कथन पर कि 'जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है। क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना स्वत्व मात्र बेंच चुका।' वह अत्यंत आश्चर्यान्वित होकर कहता है कि 'चाहे मेरु पर्वत प्रलय के आँधी पानी के झटके पाकर चलने लगे तो चले पर सत्य वीरों का मन कभी चलायमान नहीं होता।' यहाँ धर्म का विस्मय स्थायी भाव है। हरिश्चन्द्र का रसेन्द्र न लेना आलंबन है। न लेने का कारण परदासता बतलाना उद्दीपन है। धर्म का इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र की महिमा का वर्णन करना अनुभाव है।

शांत रस का स्थायी भाव शम है। संसार की असारता तथा परमेश्वर का स्वरूप आलंबन और तीर्थ-यात्रा, सत्संग, मंदिर आदि उद्दीपन है। रोमांच आदि अनुभाव और निर्वेद, हर्ष, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। उदाहरण—

ब्रज के लता पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै ।
श्री राधे राधे मुख, यह बर मुँह माँग्यो हरि दीजै ॥

यह पद श्री नारद जी ने श्री शुकदेव जी के ब्रजभूमि के विषय में पूछने पर गाया था। सांसारिक झंझटों से मन हटकर श्रीकृष्ण भगवान तथा श्री राधिका जी के प्रति लगे, इसलिए ब्रज का लता पत्ता होने की इच्छा ही शम स्थायी भाव है। इसका आलंबन युगल-मूर्ति श्री राधाकृष्ण है। तीर्थयात्रा (ब्रज-यात्रा) और श्री शुकदेव जी का सत्संग उद्दीपन है। स्मृति, हर्ष, निर्वेद संचारी भाव हैं और रोमांच, नेत्र में आँसू तथा प्रेमावस्था अनुभाव हैं, जिनसे इस रस का परिपाक पूर्णरूपेण होना स्पष्ट है।

इन नव रसों के सिवा, जैसा लिखा जा चुका है, भारतेन्दु जी ने वात्सल्य, सख्य, भक्ति या दास्य, आनंद या प्रमोद और प्रेम या माधुर्य पाँच नव्य रसों की कल्पना की है। "योंही शृंगार रस में भी ये अनेक सूक्ष्म भेद मानते थे, जैसे ईर्ष्या-मान के दो भेद, विरह के तीन, शृङ्गार के पंचधा, नायिका के पाँच और गर्विता के आठ; यों ही कितने ही सूक्ष्म विचार हैं जिनको तर्करत्न महाशय ने सोदाहरण इनके नाम से अपने उक्त ग्रंथ में मानकर उद्धृत किए हैं। इनके इन नए नए मतों पर उस समय पंडित-मंडली में बहुत कुछ लिखापढ़ी हुई थी, इसका आंदोलन कुछ दिनों तक सुप्रसिद्ध 'पंडित' पत्र में (जो 'काशी विद्या-सुधानिधि' के नाम से संस्कृत कॉलेज से निकलता है) चला था। खेद का विषय है कि इस विषय का पूरा निराकरण वह अपने किसी ग्रंथ में न कर सके।"

अलंकार

विभावों को पाकर भावों का जो स्वाभाविक उद्रेक होता है, उसका प्रत्यक्षीकरण अनुभावों द्वारा होता है। इस प्रकार से रसपुष्ट काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं, जिन्हें अस्थिर भी कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्य के गुण स्थिर होते हैं, पर उसका अलंकरण–गहने–अस्थिर होते हैं उसी प्रकार काव्य के भी गुण तथा अलंकार होते हैं। अलंकार के दो भेद होते हैं। काव्य का शब्द तथा अर्थ दोनों शरीर हैं इसी लिए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो भेद हो गए। शब्दों में चमत्कार उत्पन्न करने वाले अनुप्रास यमकादि अलंकार तभी तक सुन्दर ज्ञात होते हैं जब तक वे बिना प्रयास के आपसे आप सहज ही आ जाते हैं पर जब जबरदस्ती अकारण ऐसे अलंकारों की भरती की जाती है तब वे भूषण नहीं रह जाते। अर्थालंकार काव्य के भावों की अनुभूति को तीव्र करने या वर्णित वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया आदि का उत्कर्ष दिखलाने में सहायक होते हैं। यदि वे ऐसा न कर सकें तो वे अलंकार न होकर भारमात्र हो जाते हैं। अलंकार अलंकार ही है, वह कोई विलक्षण अज्ञेय आश्चर्य-जनक तिलस्मी वस्तु नहीं है, इसलिए उसका चमत्कार या उसकी रमणीयता काव्यांगों की शोभा ही बढ़ाना है और अन्य कुछ नहीं है।

महाराज हरिश्चन्द्र स्त्री-पुत्र के विरह से दुखी तथा राजोचित सभी आराम से वंचित थे ही, उस पर छायारहित स्मशान घाट पर वर्षा भी जोरशोर से होने लगी। इस पावस का असर स्वभावतः दुःखी हृदय के कष्ट को अधिक करना ही मात्र था। पावस की सारी शोभा उन्हें स्मशानवत दृष्टिगोचर हुई। उन्होंने पावस की शोभा का जो वर्णन किया है वह उनके हृदयस्थ भाव का पूर्ण द्योतक है। विद्युन्माला की चमक चिता की लपटें'

खद्योतगण चिनगारी, बगुलों की माला ऊपरी श्वेत लपट, काले बादल काली भूमि, बीरबहूटी रक्तबिंदु, जलधार अश्रुधारा और दादुर की रट दुःखी संबंधियों का रुदन ज्ञात होता है। अर्थात् वियोगियों के कष्ट को बढ़ाने के लिए यह पापी पावस श्मशान-सा बनकर आया है। उत्प्रेक्षा-युक्त सांग रूपक कितना सुन्दर बना है, जिससे भाव की अनुभूति तीव्र होती है और वर्णित विषय का भी उत्कर्ष बोध होता है। कवित्त इस प्रकार है—

चपला की चमक चहूँघा सों लगाई चिता,
चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है।
हेती बगमाल स्याम बादर सु भूमि कारी,
बीरबधू लहू बूँद भुव लपटायो है॥
'हरीचन्द' नीर-धार आँसू सी परत जहाँ,
दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है।
दाहन वियोग दुखियान को मरे हूँ यह,
देखो पापी पावस मसान बनि आयो है॥

किसी दानवीर सज्जन की दुर्दशा का वृत्त सुनिए। यथाशक्ति दान करते हुए वह कितने प्रकार के कष्ट सहता है और उससे लाभ उठाने वाले उसका क्या प्रतीकार देते हैं, इसे वृत्त पर घटा कर कवि इस प्रकार कहता—

क्यौं उपज्यौ नरलोक ? ग्राम के निकट भयो क्यौं !
सघन पात सों सीतल छाया दान दयो क्यौं !
मीठे फल क्यौं फल्यो फल्यौ तो नम्र भयो कित ?
नम्र भयो तो सहु सिर पैं बहु विपति लोक कृत॥
तोरि मरोरि उपारिहैं पाथर हनिहैं सबहि नित।
जे सज्जन ह्वै नै कै चलहिं तिनकी यह दुर्गति उचित॥

इसके उत्तर में घन की अन्योक्ति की जाती है कि सब कुछ

दे देने पर भी मेघ की बड़ाई है। दानी प्रतिफल नहीं चाहता, उसे दान देने ही में सुख मिलता है। कवि कहता है—

चातक को दुख दूर कियो पुनि दीनो सबै जग जीवन भारी।
पूरे नदी-नद ताल-तलैया किए सब भाँति किसान सुखारी॥
सूखे हू रूखन कीने हरे जग पूज्यौ महामुद दै निज बारी।
हे घन आसिन लौं इतनी करि रीते भए हू बड़ाई तिहारी॥

वृक्ष और मेघ पर अन्योक्तियाँ कहकर दानी ही की प्रशंसा की गई है और इनमें अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार भावों की व्यंजना का पूर्णोत्कर्ष करता है।

प्रेम

जेहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥

प्रेम एक मनोवृत्ति या भाव है, जो जीवमात्र में स्थायी रूप से रहता है। यह विकार है, जो किसी अन्य जीव, वस्तु आदि के देखने से या उसके गुण श्रवण करने से या इसी प्रकार के किसी दूसरे साधन से हमारे हृदय में उद्बुद्ध होता है और हम उससे विलग रहना नहीं चाहते। जिस वस्तु पर हमारा प्रेम हो जाता है उस वस्तु को हम सदा अपने पास रखना चाहते हैं या उसके पास रहना चाहते हैं। यदि ऐसा हम कर सकते हैं तो हम संतुष्ट रहते हैं और यदि नहीं कर सकते हैं तो हमें अतीव कष्ट होता है। इस प्रेम के अनेक प्रकार के भेद हो सकते हैं। प्रेम एकांगी तथा पारस्परिक दोनों होता है। यदि हमारे प्रेम-पात्र का भी हम पर प्रेम है तो वह पारस्परिक है, नहीं तो वह एकांगी ही रह जायगा। प्रेम उत्तम, मध्यम तथा अधम भी होता है। एक रस रहने वाला निःस्वार्थ प्रेम, जो भक्ति में बदल जाता है, पहिला है। मित्रता आदि अकारण प्रेम दूसरा है। स्वार्थ-

मय प्रेम अंतिम है पर इसे वास्तव में ऐसा पवित्र नाम न देना ही उचित होगा। इन सब भेदों के सिवा भी यह कहना उचित होगा कि प्रेम अत्यंत व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत दांपत्यप्रेम, देशप्रेम, ईश्वरोन्मुखप्रेम, वात्सल्य स्नेह आदि सभी आ सकते हैं।

'परम प्रेमनिधि रसिकवर' भारतेन्दु जी उसी को सच्चा आदर्श प्रेम मानते हैं जो एकांगी, अकारण, निःस्वार्थ, सदा समान रूप से रहनेवाला और पति ही को सर्वस्व मानने वाला हो। सुनिए—

एकांगी बिनु कारने इक रस सदा समान।
प्रियहिं गनै सरवस्व जो सोई प्रेम प्रमान॥

प्रेम का महत्व भी कवि इस प्रकार प्रकट करता है कि—

बँध्यौ सकल जग प्रेम में, भयो सकल करि प्रेम।
चलत सकल लहि प्रेम कौ, बिना प्रेम नहिं छेम॥

भारतेन्दु जी ने अपनी कविता में जिस प्रेम का अधिक वर्णन किया है वह दांपत्य प्रेम के अंतर्गत होते हुए भी ईश्वरोन्मुखी है। कुछ कविता कोरी सांसारिक प्रेम की भी है। इनके मौलिक नाटकों में शुद्ध शृंगारिक एक भी नहीं है, जिससे इनके दांपत्यप्रेम की पद्धति का कुछ पता लगता। स्फुट कविताएँ प्रेम-विषयक बहुत हैं पर इनमें विषय-वासनादि से लिप्त साधारण पद बहुत कम हैं।

रसराज शृङ्गार का स्थायी भावप्रेम है और इसी प्रेम के कारण ही शृङ्गार रसराज कहलाया है। यह प्रेम सत्य, स्थायी, अत्यंत व्यापक तथा आकर्षक है। यही प्रेम दो हृदयों को एक कर देता है, इसी प्रेम के कारण संसार की सभी वस्तुओं का आदर होता है, और अंत में इसी प्रेम के सहारे जीव ईश्वर में लीन हो जाते हैं। शृंगाररस के देवता श्रीकृष्ण इस प्रेम

के आधार हैं और इनके प्रति गोपियों तथा विशेषकर श्री राधिका जी का जो प्रेम है उसको लेकर जो कविता शुद्ध हृदय से भक्त कवियों द्वारा की गई है, वह अत्यंत पावन है या यों कहा जाय कि पतितपावन है। श्रीकृष्ण जी में शक्ति तथा शील के साथ सौंदर्य, प्रेम, ज्ञान आदि का भी पूर्ण विकास हुआ था। इनमें माधुर्य की अधिकता थी और यह वृन्दावन, गोकुल आदि में प्रजा के साथ साथ, घर घर और वन वन सुख तथा दुख में रहकर सबसे ऐसे मिल गए थे कि वह वहाँ सर्वप्रिय हो उठे थे। यही कारण था कि इनके मथुरा चले आने पर स्त्री बालक, पुरुष का क्या कहना, गायें, पशु-पक्षी तक इनके लिये दुखित हुए थे। मथुरा में कंस को मारने पर स्वयं राज्य न लेकर मंत्री तथा सर्दार ही बने रहे। महाभारत से विध्वंसकारी महायुद्ध में पांडवों को पार लगाने वाले होकर भी सारथी बने रहे। इसी युद्ध में ज्ञान, दया तथा शक्ति का अति उज्वल प्रभाव दिखलाया है। ऐसे ही नायक पर पूर्ण भक्ति रख कर की गई कविता का हिंदी साहित्य में विशेष स्थान है।

एक हृदय दूसरे को देख कर प्रेम-बिद्ध हो गया है और वह सहृदया अपनी दशा अपनी एक सखी से कह रही है। यद्यपि वह 'उनके मन की गति' नहीं जानती, वह उसे प्यार करते हैं या नहीं यह ज्ञात नहीं है तब भी वह निःस्वार्थ रूप से उन पर प्रेम रखती है। एकांगी ही प्रेम हो या न हो पर वह प्रेम करने वाली उसका कुछ न ध्यान कर तन-मन-सर्वस्व उन पर निछावर कर रही है। उसके प्रत्येक अंग इस प्रेम से प्लावित हो रहे हैं, वह 'प्रेम-रस-मगन' हो रही है। वह कहती है—

सखी हम कहा करैं कित जायँ।
बिनु देखे वह मोहिनि मूरति नैना नाहिं अघायँ ॥१॥
कछु न सुहात धाम धन गृह सुख मात पिता परिवार।

बसत एक हिय मैं उनकी छबि नैनन वही निहार ॥२॥
हमरे तो तन मन धन प्यारे मन बच क्रम चित माँहि।
पै उनके मन की गति, सजनी, जानि परत कछु नाहिं ॥३॥
नैना दरसन बिनु नित तलफैं, बैन सुनन कों कान।
बात करन कों मुख तलफैं, गर मिलिबे को ये प्रान ॥४॥

ईश्वरोन्मुख प्रेम

'जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और उसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप से आप खुल जाता है, वह किसी को नहीं मिली।' 'इस मदिरा को शिव जी ने पान किया है और कोई क्या पियेगा? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं, धन्य है, धन्य है, और दूसरा कौन ऐसा है? नहीं, नहीं ब्रज की गोपियों ने इन्हें भी जीत लिया है। अहा, इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता।' भक्ति में माहात्म्य ज्ञान तथा प्रेम दोनों ही होने चाहिएँ।

भक्तितत्व की विवेचना करने के पहिले भक्ति के विकास पर कुछ विचार करना जरूरी है। मानव जाति आदिम काल में बड़े बड़े नगर बसा कर नहीं रहती थी प्रत्युत् कुछ परिवार एक स्थान पर बस जाते थे और कृषि तथा पशु पालन कर जीवन निर्वाह करते थे। खेती, पशु तथा मनुष्य संबंधी अनेक प्रकार के कष्ट भी इन्हें झेलने पड़ते थे। ये सभी कष्ट अपनी ही कृति के परिणाम न थे, इसलिए वे किसी परोक्ष शक्ति द्वारा प्रेरित माने जाने लगे और उस शक्ति के प्रति इनमें भय की उत्पत्ति हुई।

तब ऐसी शक्ति की अपनी अपनी परिस्थिति के अनुकूल भावनाएँ की गईं और उन्हें तुष्ट रखने के लिए बलिदान आदि देकर वे उन्हें पूजने लगे। प्रेतपूजा, नागपूजा आदि उसी आदिम काल के उपासना के द्योतक हैं। इसके अनंतर केवल दुख ही दूर करना ध्येय नहीं रह गया वरन् अधिक सुख पाने की इच्छा मनुष्यों में उत्पन्न हुई। वर्षा से कृषि को लाभ पहुँचता है, इसलिए उसके देवता इन्द्र की भावना की गई। जलदेवता, वरुण, धनदेवता कुबेर, स्वयं प्रकाशमान प्रत्यक्ष देव सूर्य आदि की उपासना इस लाभ के लोभ से की जाने लगी कि प्रसन्न होकर अपने भक्तों को सब प्रकार से फायदा पहुँचावें। इस तरह देखा जाता है कि दो प्रकार के देवताओं की भावना की गई, जिनमें कुछ अनिष्टकारक और कुछ इष्ट लाभदायक थे। यह भावना बहुत दिनों तक या यों कहिये कि अब तक बनी हुई है।

मानव जाति में यह धारणा बहुत दिनों तक बनी रही कि देवगण पूजा पाने से प्रसन्न और न पाने से अप्रसन्न होते हैं तथा वे अपने पूजकों के सुकर्मों और कुकर्मों पर विचार नहीं करते। साथ ही इस प्रकार देवताओं की संख्या में वृद्धि होते होते यह भी भावना उठने लगी थी कि इन सबसे बड़ा, या इन सब का मुखिया, कोई अव्यक्त अचिंत्यादि गुणों से विभूषित कोई परब्रह्म परमेश्वर भी होगा जिससे ये देवगण अपनी-अपनी शक्ति पाते होंगे। यह निर्गुण भावना ज्ञानमार्ग की थी, जिसकी उपासना करना साधारण जनसमुदाय की शक्ति के बाहर था। वे देखते थे कि मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उसका पालन होता है और अंत में उसका नाश होता है। उस निर्गुण परब्रह्म को इन तीनों कार्य-शक्तियों से युक्त समझकर उसके तीन सगुण रूपों की भावना की गई और उसका ध्यान स्रष्टा रूप में ब्रह्मा, पालक रूप में विष्णु तथा संहारक रूप में शिव नामकरण करके

किया जाने लगा। उसी आदिम काल की भावना की प्रबलता ने भय के कारण शिव की तथा लाभार्थ विष्णु के उपासना की ओर जनसमुदाय को विशेष आकृष्ट किया था।

समय के साथ साथ सामाजिक व्यवस्था उन्नत होती जा रही थी, ग्राम नगर बस रहे थे और विचारों के आदान प्रदान बढ़ रहे थे। समाज में एक ओर दुष्ट आततायियों की नृशंसता, अत्याचार आदि दृष्टिगोचर हो रहे थे तो दूसरी ओर ऐसे क्रूरों का नाश कर लोकरक्षा करने वाले आदर्श वीर भी अवतरित होते पाए जाते थे। ऐसे आदर्श वीरों में दया, उदारता, शील, शक्ति आदि लोक-रक्षक उदात्त वृत्तियों को पूर्ण अभिव्यक्ति पाकर जनता उन पर ऐसी मुग्ध हुई कि उसने उन्हें परब्रह्म के लोकपालक सगुण-रूप विष्णु का अंश मान लिया। लोकपालक विष्णु ही इष्टदेव हुए, जिनमें मानव-मंगल की समग्र आशाएँ केंद्रीभूत हो उठीं। ये ही बार-बार लोकरक्षा के लिए असाध्य नृशंस राक्षसों का संहार करने को इस पृथ्वी पर आते दिखलाई पड़ने लगे और इनके ऐसे ही अनेक अवतारों में श्री रामचंद्र और श्री कृष्णचंद्र ही वैष्णवों के विशेष प्रिय उपास्य देव हुए। इसका कारण यही है कि इन दोनों महान आत्माओं ने मानव समाज में मिलकर उसी को अपने स्थितिविधायक धर्म, शील तथा अन्य गुणों में से एकदम मुग्ध कर लिया था। इनके प्रति मनुष्यों के हृदय में जो प्रेम भाव भर उठा था वह 'माहात्म्य ज्ञान' अर्थात् उपासना बुद्धि से मिल कर भक्ति में परिवर्तित हो उठा। यही कारण है कि भक्ति का पूर्ण विकास वैष्णवों ही में हुआ है।

वैष्णव संप्रदाय के दो मुख्य विभाग हो गए, एक कृष्णोपासक तथा दूसरा रामोपासक। श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने बंग देश में तथा श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु ने पश्चिमोत्तर प्रांत

में कृष्ण भक्ति-भाव को प्रवाहित कर जनसाधारण के निराशामय खाली हृदयों को आशा तथा आनंद से परिपूर्ण कर दिया। अष्टछाप के सुकवियों तथा अन्य भक्तजनों की वीणाओं की स्वर-लहरी भी उनके हृदयों को तरंगित करने लगी। इन महात्माओं ने बालमुकुंदोपासना ही का विशेषतः प्रचार किया था पर ब्रज-लीला के समग्र प्रेम की आधारभूता श्री राधिका जी की उपासना अवश्यंभावी थी, इसीलिए आज तक कृष्णोपासकगण या तो बालगोपाल की या युगलमूर्ति की पूजा करते आए हैं।

भारतेन्दु जी तदीय नामांकित अनन्यवीर वैष्णव थे और इनके यहाँ युगलमूर्ति की सेवा होती आई थी। इन्होंने तदीय-सर्वस्व में श्री नारदीय सूत्र को व्याख्या करते हुए भक्ति का बहुत ही अच्छा प्रतिपादन किया है।

इनका अनन्य प्रेम बहुत चढ़ा हुआ था। अपने 'गोपाल' की मूर्ति का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

सकल की मूलमयी वेदन की भेदमयी,
 ग्रंथन की तत्वमयी बादन के जाल की।
मन बुद्धि सीमामयी सृष्टिहु की आदिमयी,
 देवन की पूजामयी जीवमयी काल की॥
ध्यानमयी ज्ञानमयी सोभामयी सुखमयी,
 गोपी-गोप-गाय ब्रज-भागमयी भाल की।
भक्त-अनुरागमयी राधिका सुहागमयी,
 प्राणमयी प्रेममयी मूरति गोपाल की॥

और फिर कहते हैं कि यदि संसार में हमें कुछ करना है तो वह सब गोपाल ही के निमित्त है। सुनिए—

भजौं तो गोपाल ही को सेवौं तो गुपालै एक,
 मेरो मन लाग्यो सब भाँति नन्दलाल सों।

मेरे देव देवी गुरु माता पिता बन्धु इष्ट,
मित्र सखा हरि नातो एक गोप बाल सों ॥
'हरीचंद' और सों न मेरो सनबन्ध कछु,
आसरो सदैव एक लोचन बिसाल सों ।
माँगौं तो गुपाल सों न माँगौं तो गुपाल ही सों,
रीझौं तो गुपाल पै औ खीझौं तो गुपाल सों ॥

सत्य ही इस अनित्य संसार के एक भी संबंध अंत में काम नहीं आते हैं और यह बड़ा ही क्रूर सत्य है। यह वह बात है कि प्रत्येक जीव उसे जानते हुए भी भयादि कारणों से उसे न जानने का स्वाँग करता है।

द्वारहिं पै लुटि जायगो बाग औ आतिसबाजी छिनै में जरैगी।
ह्वैहैं बिदा टका लै हय हाथिहु खाय पकाय बरात फिरैगी ॥
दान दै मात पिता छुटिहैं 'हरिचन्द' सखीहु न साथ करैगी।
गाय बजाय जुदा सब ह्वैहैं अकेली पिया के तू पाले परैगी ॥

इस अनन्यता से यह तात्पर्य नहीं है कि भारतेन्दु जी में हठ-धर्मी थी। 'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' के रहते भी वे ऐसे मंदिर में गए थे और शोर गुल मचाने पर 'जैन कुतूहल' ही लिख डाला। 'सियाराममय' के भाव में कहते हैं—

बात कोउ मूरख की यह मानो।
हाथी मारै तौं हू नाहीं जिन मन्दिर में जानो ॥
जग में तेरे बिना और है दूजो कौन ठिकानो।
जहाँ लखो तहाँ रूप तुम्हारो नैनन माहिं समानो ॥
एक प्रेम है, एकहि प्रन है हमरो एकहि बानो।
'हरीचंद' तब जग में दूजो भाव कहाँ प्रगटानो ॥

इनका प्रेम सर्वतोमुखी था। धर्म की व्याख्याएँ करते हुए भी यह देश को नहीं भूले। "वैष्णवता और भारतवर्ष' में धर्म की प्राचीनता स्थापित करते हुए अंत में लिखते हैं कि 'उपासना एक

हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्यक्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं। वैष्णव, शैव, ब्राह्म आर्यसमाजी सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं इसी से ऐश्वर्य रूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरों को एक में बाँध कर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिगदिगंत भागने से रुकैगा। अर्थात् अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें। अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अँगरेज़ों से जो नौकरी बच जाती है उन पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी नहीं, केवल नौकरी की थी, सो भी धीरे-धीरे खसकी। तो अब कैसे काम चलैगा। हिन्दू नामधारी वेद से लेकर तंत्र वरंच भाषा ग्रन्थ मानने वाले तक सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रक्खो कि आर्य जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है। भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो ऊपर से सब आर्य मात्र एक रहो। धर्म संबंधी उपाधियों को छोड़ कर प्रकृत धर्म की उन्नति करो।"

देश-प्रेम

जैसा लिखा जा चुका है, भारतेन्दु जी ने देश-काल-समाज के अनुसार पद्य साहित्य-क्षेत्र को भी, केवल प्राचीन रूढ़िगत विषयों ही में संकुचित न रख कर, अनेक नए-नए पुराने क्षेत्र जोड़कर अधिक विस्तृत किया था। इन सभी नये पुराने क्षेत्रों में देशभक्ति के रंग ही का प्राधान्य था। राजभक्ति, लोकहित, समाज-सेवा सभी में देशभक्ति व्याप्त थी या यों कहा जाय कि इनकी देशभक्ति मूल थी तथा राजभक्ति, लोकहित, मातृभाषा-हितचिंतन आदि उसी की शाखा-प्रशाखा थीं। भारतेन्दु जी ने

स्वदेश के लिये तन मन, धन, सभी कुछ अर्पित कर दिया था और देश ही की चिंता में सदा व्यग्र रहकर इन्होंने अपना छोटा सा जीवन बिता दिया था। 'भारतवर्ष के पुरावृत्त के प्रारम्भ काल से आज तक जो बड़े बड़े दृश्य यहाँ बीते हैं और जो महायुद्ध, महाशोभा और महादुर्दशा भारतवर्ष की हुई है उनके चित्र नेत्र के सामने लिख जाते हैं।' यही कारण है कि उनकी समग्र कृति में देश के प्रति उनका जो प्रेम था वह किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता रहता है। भारत की करुण कथा के तीन स्पष्ट विभाग हैं और इन तीनों की भारतेन्दु जी ने जो मार्मिक व्यंजना की है उसे पढ़कर सहृदयों के हृदय में अतीत के प्रति गर्व, वर्तमान के लिये क्षोभ और भविष्य के लिए मंगल-कामना एक के बाद दूसरी उठ कर उन्हें उद्वेलित कर देती है। इतिहास, नाटक काव्य सभी में इन्होंने देश-दशा पर जो कुछ कहा है उनके एक-एक शब्द इनके हृदय-रक्त से रंजित है।

किसी स्थान-विशेष की दुर्दशा का वर्णन तभी किया जा सकता है जब वह उस कुदशा को प्राप्त होने के पहिले बहुत ही समुन्नत अवस्था में रहा हो। भारत पहिले कितनी उन्नत अवस्था में था, इसका कवि ने बहुत उदात्त-पूर्ण वर्णन किया है पर साथ ही ध्यान रहे कि वह सब कविता भारत की दुर्दशा देखकर कवि के दग्ध हृदय से निकली है। कवि कहता है 'हा! यह वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था "शूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव" और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि श्मशान हो रही है।' इसी भाव से देशभक्त कवि मर्माहत हो रहा है, उसका भारत की प्राचीन अवस्था का वर्णन करना मानो जले हुए दिल के फफोले फोड़ना है। देखिए—

ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम वेद-गान।
तब मोहत सब नर-नारि-वृन्द।
सुनि मधुर बरन सज्जत सुछंद॥
जग के सबहीं जन धारि स्वाद।
सुनते इनहीं को बीन नाद॥
इनके गुन होतो सबहि चैन।
इनहीं कुल नारद तानसैन॥
इनहीं के क्रोध किये प्रकास।
सब काँपत भूमंडल अकास॥
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर।
गिरि काँपत हे सुनि चार ओर।
जब लेत रहे कर में कृपान।
इनहीं कहँ हो जग तृन समान॥
सुनि के रनबाजन खेत माहिं।
इनहीं कहँ हो जिय सके नाहिं।

प्रथम पंक्ति का 'कृष्ण बरन' कितने अर्थों से गर्भित है और कैसा क्षोभपूर्ण है। ये काले हैं, ऐसा कह कर आज हमें घृणा की दृष्टि से देखते हो। पर इन्हीं कृष्णकाय पुरुषों के दिग्विजय से पृथ्वी किसी समय थर्रा उठती थी, कपिलदेव, बुद्ध आदि इसी वर्ण के थे। और भास, कालिदास, माघ आदि कविगण भी काले कलूटे थे। इन लोगों के विजय-यात्रा वर्णन उपदेश तथा काव्यामृत काले ही अक्षरों में लिखे जाते हैं, पर फल क्या? आज

हाय वहै भारत भुव भारी। सबही बिधि सों भयो दुखारी॥

भारत का स्वातंत्र्य-सूर्य पृथ्वीराज चौहान के साथ साथ अस्त हो गया और यह देश दूर देश से आए हुए यवनों से पादाक्रांत होकर परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ गया। सहत्रवीं तथा अठारहवीं

शताब्दियों में हिन्दुओं ने स्वातंत्र्य के लिए घोर प्रयत्न किया और स्यात् वे उसमें सफल भी होते पर नई नई वाह्य शक्तियों ने आकर उनके उस प्रयास को विफल कर दिया। उसकी वही दशा ज्यों की त्यों बनी रह गई। स्वभावतः यह भी देखा जाता है कि समान दुःख के साथी यदि मिल जाते हैं तो दुःखी हृदय को बहुत धैर्य मिल जाता है। भारत ही के समान ग्रीस और रोम भी पहिले बहुत उन्नत अवस्था में थे, सभ्यता की दीक्षा देने में ये ही दोनों समग्र योरोप के गुरु माने जाते थे, पर बाद को अर्वाचीन-काल में इनकी अवस्था बहुत खराब होगई थी। इसके अनन्तर इन दोनों ने पुनः उन्नति कर ली है पर भारत वैसा ही बना रह गया है। दुःख के साथियों के रहने से जो धैर्य था वह भी भारत के भाग्य में न रह गया, जिससे उसे—

रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो। सब विधि भारत दुखी बनायो॥

इसमें क्षोभ, अधैर्य, द्वेष, विषाद सभी का सरल सम्मिश्रण है। कवि कह उठता है—

कहा करी तकसीर तिहारी। रे विधना भारतहि दुखारी॥
सोइ भारत की आज यह भई दुरदशा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय॥

जब कुछ उपाय नहीं सूझता, तब मनुष्य 'क्षीणा नराः कापुरुषा भवति' के अनुसार प्राण देना ही उत्तम समझता है। सुनिये—

काशी प्राग अयोध्या नगरी। दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी॥
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई। रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई।
हाय पंचनद! हा पानीपत! अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत॥
हाय चित्तौर! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो। सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो॥
तुम में नहिं जल जमुना गंगा। बढ़हु बेग करि तरल तरंगा॥

धोवहु यह कलंक की रासी। बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
कुस कन्नौज अंग अरु बंगहि। बोरहु किन निज कठिन तरंगहि॥
अहो भयानक भ्राता सागर। तुम तरंगनिधि अति बल-आगर॥
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई। देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥
घेरि छिपावहु विन्ध्य हिमालय। करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
धोवहु भारत अपजस-पंका। मेटहु भारत भूमि कलंका॥

अयोध्या, चित्तौर, पंचनद आदि नामों का केवल उल्लेख ही सच्चे देशभक्त के हृदय में किन किन भावों का प्रस्फुरण कर देता है, वह अकथनीय है, कहाँ रामराज्य का गर्व और कहाँ वर्तमान काल की उसकी कुदशा पर क्षोभ। इन थोड़ी सी पंक्तियों के एक-एक शब्द में हमारे भारत की करुण-कथा भरी है। गौरव काल के बाद अधोगति को प्राप्त न होना ही श्रेय है, पर मनचाही मृत्यु भी नहीं मिलती, इसलिए पुनः कवि ईश्वर से अपनी करुण गाथा कहकर स्वदेश के लिये मंगलकामना की इच्छा से प्रार्थना करता है।

कहाँ करुनानिधि केसव सोए!
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए।
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इतके पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए॥
प्रलय काल सम जौन सुदरसन असुर-प्रानसंहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी॥
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस सहस नर सीस काटि भुव पाटैं॥
है अनाथ आरत कुल-विधवा बिलपहि दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहि लजत खरारी॥

भारत के मेव फूट और बैर, यहाँ के विभीषणों तथा विषय-भोगलोलुपों, अविद्या-अंधकार आदि के मारे दुर्दशाग्रस्त देश

को दग्ध कवि ने घबड़ाकर एक देवता से इस प्रकार कहला डाला है—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै।
मूरखता को तम चारहु ओर पसरिहै॥
वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दासवृत्ति अनुसरिहै॥
नसि जैहैं सगरे सत्यधर्म अविनासी।
निज हरि सों ह्वै हैं विमुख भरतभुववासी॥

यहाँ कवि अपन देशवासियों की त्रुटियों को देख कर ही ऐसा लिखने को वाध्य हुआ है, वह मिल्टन के पिशाच के समान नर्क के राज्य को स्वर्ग की दासता से बढ़कर नहीं मान सका है। वह इन त्रुटियों तथा दोषों का परिहार इस प्रकार कह कर कराना चाहता है। वह अच्छी प्रकार जानता है कि 'बढ़ै बृटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक।' और 'जज्ज कलक्टर होइहैं हिन्दू नहिं तित धाइ। ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित हीन।' परतंत्रता दुःखमूलक ही है पर जब गृह ही में द्वन्द्व मचा रहता है तभी दूसरे सबल पुरुष वहाँ शांति स्थापित करने आ पहुँचते हैं। भारतेन्दु जी के समय के भारत का क्या हाल था, उसे सुनिए। 'विद्या की चर्चा फैली, सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल्यविवाह, भूतप्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि! वही थोड़े में संतोष, गाय हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें! हाय अब भी भारत की यह दुर्दशा! अरे अब क्या चिता पर सम्हलेगा।'

हिन्दी कविपरंपरा में भारतेन्दु जी के पहिले वीर-रस के अनेक कवि हो चुके हैं जिनमें अंतिम महाकवि 'भूषण' थे। भूषण के बाद वीर-रस के कोई अच्छे कवि हुए नहीं। भारतेंदु जी ने समग्र भारतवासियों को संबोधित कर उनकी तथा उनके देश की प्राचीन उन्नत अवस्था, मध्यकाल की परतंत्रता तथा अवनत अवस्था और वर्तमान काल में भी अवसर पाकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर न होने की कायरता या मूर्खता डंके की चोट वर्णन की और उन्हें राष्ट्रभाषा की उन्नति करते हुए देश-सेवा करने को अनेक प्रकार से उत्साह दिलाया है। काव्य, नाटक, लेख जो कुछ लिखा है, उनमें कहीं न कहीं अवसर लाकर इन विषयों पर अपने पाठकों, दर्शकों, श्रोताओं को यह निरंतर आकर्षित करते रहे। इनके चरित्र तथा इनकी रचनाएँ सभी इस देश-भक्ति के रंग से रंजित हैं और इनकी यह ऐसी निजी विशेषता है कि यह हिन्दी तथा हिन्दुस्तान के इतिहास में भी अमर हो गए हैं।

भारतेन्दु जी का विरह-वर्णन

भारतेन्दु जी का विरह वर्णन पुरानी रूढ़ि के कवियों के वर्णन से कुछ भिन्न है। इनमें अतिशयोक्ति की कमी और स्वाभाविकता की पूर्णता है। यद्यपि पुराने कवियों ने कल्पनाओं की ख़ूब उड़ान मारी है, बड़े-बड़े बाँधनू बाँधे हैं, पर सभी में अनैसर्गिकता पद-पद पर साथ चली आई है। हिन्दी तथा उर्दू-दोनों ही के कवियों ने विरह के ऐसे ऐसे चित्र खींचे हैं जिन्हें जयपुर के चित्रकारों की बारीक से बारीक कलम की नज़ाकत भी नहीं दिखला सकती। उर्दू के दो उस्तादों की उस्तादी की बातें सुनिए और आँखें मूँद कर ध्यान कीजिए, कुछ समझ में आता है।

इन्तहाए लाग़री से जब नज़र आया न मैं।
हँस के वह कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए ॥
नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने कोने ढूँढ़ती फिरती कज़ा थी मैं न था ॥

पहिले साहब चुचुक कर ऐसे अमहर हो गये थे कि नहीं से हो रहे थे और उन्हें न देख कर माशूक हँस पड़ा, देखते तो शायद रो पड़ते पर जब वह दिखलाई ही न पड़े तब सिवा हँसने के झेंप मिटाने का और उपाय ही क्या था। हाँ खोजने के लिये बिस्तार झाड़ने का हुक्म हुआ, मानों आशिक पिस्सू बन कर उसके नीचे दबक गया था। दूसरे साहब की बात ही निराली है। पहिले तो यही ज्ञात होता है कि बेचारे इस हिज्र से बड़े प्रसन्न हैं कि उसने इन्हें ऐसा कर दिया है कि मौत भी उन्हें ढूँढ़ कर न पा सकी और उनकी जान बच गई। यदि हिज्र न होता तो स्यात उनकी मुटाई से क़ज़ा को अधिक परिश्रम न करना पड़ता और 'मैं न था' सत्य हो जाता।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बिहारी की विरहिणी परमाणुता को पहुँची थी। वह भी गलपच कर ऐसी बेमालूम हो गई थी कि मीच (मृत्यु) चश्मा लगाकर भी उसे नहीं देख सकती थी। यद्यपि विरहिणी सामने से हटती नहीं था पर वह स्यात् मृत्यु चाहने में कुछ आगा पीछा कर रही थी, नहीं तो झट मृत्यु से कह कर ऐसे विरह-कष्ट से छुटकारा पा जाती। दोहा इस प्रकार है—

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़तु नीच।
दीनै हू चसमा चखनि चाहै लखै न मीच ॥

विरहाग्नि से गाँव की नदी ऐसी खौल उठी कि समुद्र तक पहुँच उसे गरम कर डाला और बड़वाग्नि को जलाने लगी। जायसी ने भी ऐसी ही कुछ अंट-संट बातें कही हैं। विरही के

लिखे पत्र के अक्षर अँगारे हो रहे थे, जिससे कागज़ के न जलने पर भी उसे कोई छूता न था, तब सुग्गा उसे ले चला। अन्य स्थान पर कहते हैं कि विरह कथा जिस पक्षी से वह कहता था उसके पक्ष सुनते ही जल जाते थे। मालूम होता है कि वह सुग्गा भी कागज़ की तरह किसी विरह-साबरमंत्र से सुरक्षित किया गया था।

विप्रलंभ शृंगार के चार भेद होते हैं, पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण। केवल दर्शन, गुण श्रवण आदि से प्रेम के अंकुरित हो जाने पर मिलन तक का विरह पूर्वानुराग के अंतर्गत है। प्रेमियों के एक दूसरे से कारणवश रुष्ट होने पर उत्पन्न वियोग मान कहलायगा। जब दो में से एक कहीं बिदेश चला जाय तब प्रवास विप्रलंभ होता है।

करुण विप्रलंभ नायक तथा नायिका दो में से एक के मरण पश्चात् दूसरे के शोक को कहा जा सकता है पर उसी अवस्था तक यह करुण-विप्रलंभ रहेगा जब इस बात की उसे आशा होती है कि वह पुनर्जीवित हो उठेगा। सत्यवान की मृत्यु पर सावित्री का रुदन इसी प्रकार का था, क्योंकि उसे दृढ़ आशा थी कि उसका पति पुनः जी उठेगा। यदि जी उठने की आशा ही न रहे तो करुण विप्रलंभ न रह कर करुण रस हो जायगा।

श्री चन्द्रावली नाटिका हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है और इसकी सारी विशेषता केवल एकमात्र शब्द प्रेम में भरी पड़ी है। इसमें का विरह-वर्णन इतना स्वाभाविक, इतना हृदय-ग्राही और समवेदना-उत्पादक है कि इसके पाठक या श्रोतागण इसे पढ़ सुन तन्मय हो जाते हैं। इस समग्र नाटक में शृङ्गार-रस का वियोग पक्ष ही प्रधान है, केवल अन्त में मिलन होता है। 'प्रेमियों के मंडल को पवित्र करनेवाली' चन्द्रावली में श्रीकृष्ण के बाल-सुलभ चपलता, सौंदर्य तथा गुण सुनने से

पूर्वानुराग उत्पन्न होता है। आसपास के गाँव में रहने से देखा देखी भी होती है और वह प्रेम रूप में परिणत हो जाता है।

वह सुन्दर रूप विलोकि सखी, मन हाथ ते मेरे भग्यो सो भग्यो।

इस प्रकार मन के भाग जाने से अनमनी हुई किसी नायिका का कवि यों वर्णन करता है—

भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी,
दुखी सी रहत कछू नाहीं सुधि देह की।
मोही सी लुभाई कछु मादक सी खाए सदा,
बिसरी सी रहै नेक खबर न गेह की॥
रिस भरी रहै कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेह की।
पूछे ते निसानी होय उत्तर न आवै तोहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेह की॥

इस प्रकार प्रेम का आधिक्य हो जाने पर उसे छिपाना कठिन हो जाता । सखियाँ प्रश्न करती हैं, हठ करती हैं तब बतलाना पड़ता है। विरह कष्ट के विशेष रूप से प्रकट न मालूम होने से जब शंका होती है तब उत्तर मिलता है कि—

मनमोहन तें बिछुरी जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचंद जू' प्रेम के फंद परी कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥
दुख के दिन को कोऊ भाँति बितै बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

सत्य ही दूसरे का दुःख कौन समझ सकता है। कष्ट के दिन तो किसी प्रकार बीत भी जाते हैं पर रात्रि कैसे व्यतीत होती है यह दुखिया ही समझ सकती है। इस पद का पूर्वानुराग नीली राग ही कहलाएगा यद्यपि आगे चलकर चंद्रावली जी का यह अनुराग मंजिष्ठा राग में परिवर्तित हो गया है। किस प्रकार यह अनुराग बढ़ा है, इसके कथन के साथ साथ

इस पद में विरह की प्रथम तीन दशाएँ—अभिलाषा, चिंता तथा स्मृति--भी लक्षित हो रही हैं।

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू क्यों चितै मुरि मो छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति निबाहन को क्यों कलाम कियो॥
'हरिचन्द' भए निरमोही इते निज नेह को यो परिनाम कियो।
मन माँहि जो तोरन ही की हुती अपनाइ कै क्यों बदनाम कियो॥

विरह से उद्वेग बढ़ा, उन्माद के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे और जड़ तथा चेतन का भेद न रह गया। 'राजा चन्द्रभानु की बेटी चन्द्रावली' पक्षियों पर बिगड़ उठती है, कहती है—'क्यों रे मोरो, इस समय नहीं बोलते? नहीं तो रात को बोल बोल के प्राण खाए जाते थे। कहो न वह कहाँ छिपा है? (गाती है)

अहो अहो बन के रूख कहूँ देख्यो पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहो वह कितै सिधारो॥
अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुन्दर नँदलाला॥

कैसी उन्मत्त दशा है, ये पेड़ पक्षी भी अपने साथ सहानुभूति दिखलाते हुए ज्ञात होते हैं पर बेचारों का कुछ वश चलता नहीं। विरहिणी उनसे बड़े दुलार के साथ, आदर के साथ पूछती है पर वे निरुत्तर हैं। उन्मादिनी के कान में किसी ने वर्षा का शब्द पहुँचा दिया बस वह अपने घनश्याम आनन्दघन का स्वप्न देखने लगी। वह कहती है—

चलि साँवली सूरत मोहनी मूरत आँखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परीं इन्हें पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए॥
पीत पटै बिजुरी से कबौं 'हरिचन्द जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कबौं आइकै आनँद के घन नेह को मेह पिया बरसाइए॥

सच्चे प्रेमी चातक ही के स्वरूप हैं, इनकी प्यास-हृदय तृष्णा, उन्हीं के प्रेमपात्र के मिलने से तृप्त होती है, उससे

हज़ार गुणा बढ़कर सौंदर्यादि गुणों से युक्त पात्र को देखने से नहीं होती। ऐसी विरहिणी को दिन होता है तो शोक, संध्या होती है तब भी शोक चन्द्र की सुधामयी किरणें तथा सूर्य की उत्तप्त रश्मियाँ उनके लिए समान हैं। चन्द्रोदय होने पर पहले उसमें वह अपने प्रिय—"गोप कुल-कुमुद निसाकर उदै भयो" मानती है और जब वह भ्रांति मिटती है तब उसे सूर्य समझ कहती है—

निसि आजहू की गई हाय बिहाय पिया बिनु कैसे न जीव गयो।
हत-भागिनी आँखिन को नित के दुख देखिबे कों फिर भोर भयो॥

जब चन्द्रमा बादल के आ जाने से छिप जाता है तब एका-एक उसे रात्रि का पता चलता है। वह घबड़ाकर कहती है—'प्यारे देखो जो जो तुम्हारे मिलने में सुहावने जान पड़ते थे वही अब भयावने हो गए। हा! जो बन आँखों से देखने में कैसा भला दिखाता था वही अब कैसा भयंकर दिखाई पड़ता है। देखो सब कुछ है, एक तुम्हीं नहीं हो।'

विरह दशा में यदि सहायक मिल जायँ तो अवश्य ही विरह कष्ट कुछ कम हो जाता है, आशा बड़ी बलवती होती है पर इस दशा में निरवलंबता ही अधिक मालूम होती है और इसी से यह कष्टकर होती है। विरहिणी कहती है—अरे मेरे नित के साथियो, कुछ तो सहाय करो।

अरे! पौन, सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यौं न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारो॥
अहो! भँवर, तुम श्याम रंग मोहन व्रतधारी।
क्यौं न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥

विरह में सुखद वस्तु भी दुःखद प्रतीत होती है। श्याम घन को देख घनश्याम की, इन्द्र धनुष तथा बगमाल देखकर श्रीकृष्ण की वनमाला और मोतीमाला की मोर पिक आदि के

शब्द सुनकर वंशीनाद करनेवाले की छबि की, और 'देखि देखि दामिनी की दुगुन दमक पीतपट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै।'

यह दुःख अनुपम है, और सब दुःख दबा करने, सात्वना देने, धैर्य धराने से कुछ कम ज्ञात होते हैं, पर यह इन सबसे और बढ़ता है। एक ऐसी ही विरहिणी का वर्णन कितना स्वाभाविक हुआ है कि सुनने वाले का मन बरबस उसके प्रति सहानुभूति-पूर्ण होकर उमड़ पड़ता है—

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर,
हरी सी बिकी सी सो तो सबही घरी रहै।
बोले तें न बोलै दृग खोलैं ना हिंडोलै बैठि,
एकटक देखे सो खिलौना सी धरी रहै।
'हरीचन्द' औरौ घबरात समुझाए हाय,
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि कहि,
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुर्छि परी रहै॥

वह तभी तक कुछ आराम पाती है जब तक अपने होश में नहीं रहती। यही जड़ता नहीं काम दशा है। विरही-विरहिणी प्रायः अपना दुःख दूसरे स्त्री-पुरुष से नहीं कहते और कहते भी हैं तो जड़-पदार्थों से कहकर अपने जी का बोझ हलका करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं, यह कवि ने एक पद में इस प्रकार कहलाया है—

मन की कासों पीर सुनाऊँ
बकनों वृथा और पत खोनो सबै चबाई गाऊँ॥
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ।
'हरीचंद' पिय मिले तो पग धरि गहि पटुका समुझाऊँ॥

विरह प्रलाप भी विचित्र होते हैं। एक वियोगिनी इस दुःख

से घबरा कर बूढ़े ब्रह्मा को दोष दे रही है कि क्या संसार भर में यही ब्रजमंडल मुझे जन्म देने के लिये बच रहा था और यदि जन्म दिया भी तो न मालूम किस बैर से उसने हमारा सब सुख ठगकर हमें दुख देने ही को जिला रखा है—

बृजबासी वियोगिन के घर मैं जग छाँड़ि कै क्यों जनमाई हमैं।
मिलिबो बड़ी दूर रह्यो 'हरिचंद' दई इक नाम धराई हमैं॥
जग के सगरे सुख सों टगि कै सहिबे को यही हैं जिवाई हमैं।
केहि बैर सों हाय दई बिधिना दुख देखिबे ही को बनाई हमैं।

मान प्रणय तथा ईर्ष्या दोनों ही में होता है और इसलिए इसका इस प्रकार दो भेद माना गया है। प्रणय मान का एक उदाहरण लीजिए—

पिय रूसिबे लायक होय जो रूसनो वाही सों चाहिए मान किये।
'हरिचन्द' तो दास सदा बिन मोल कों बोलै सदा रुख तेरो लिये॥
रहै तेरे सुखं सों सुखी नित ही मुख तेरो ही प्यारी बिलोकि जिये।
इतने हूँ पै जानैं न क्यो तू रहै सदा पीय सों भौंह तनेनी किये॥

इसमें पति का पत्नी के प्रति सच्चा प्रेम है और उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया है जिससे प्रेमिका को मान करने का अवसर मिले पर वह स्यात प्रणयाधिक्य से मान की साध पूरी करने के लिये 'भौंह-तनेनी किए' रहती है। ईर्ष्या से उत्पन्न मान होने पर उस मानवती को विरह कष्ट विशेष रूप से होता है। कार्यवश, शाप या भयवश प्रिय का प्रवास हो जाने पर प्रेमी-प्रेमिका को जो विरह कष्ट उसकी प्रतीति पूर्वानुराग तथा मान के विरह कष्ट से अधिक तीव्र होती है। इसी से प्रवासोद्यत नायक से प्रेमिका कहती है—

करिकै अकेली मोहिं जात प्राननाथ अबै,
कौन जानै आय कब फेर दुख हरिहौ।

औध को न काम कछू प्यारे घनश्याम, बिना,
आप कै न जीहैं हम जोपैं इतै धरिहौ ।।
'हरिचन्द' साथ नाथ लेन मैं न मोहिं कहा,
लाभ निज जीअ मैं बताओ तो विचरिहौ ।
देह संग लेते तो टहलहू करत जातो,
एहो प्रानप्यारे प्रान लाइ कहा करिहौ ।।

कैसो सुन्दर व्यंजना है । विरह में वह जीवित रहेगी ही नहीं और इसलिये उसके प्राण निकल कर साथ ही चले जायँगे। ऐसी अवस्था में केवल प्राणरूपी साथी को साथ ले जाने से उसे किसी-भी प्रकार का लाभ न होगा। ऐसा ही एक विरहिणी ने प्राण को त्याग दिया पर प्राण ही बेचारा उस महागुण रूपराशि की शरीर को न छोड़ सका। इस प्रकार यह पद करुण विप्रलंभ श्रृङ्गार रस पूर्ण हो गया है। संवाद-दाता कहता है—

हे हरि जू बिछुरे तुम्हरे नहिं धारि सकी सो कोऊ विधि धीरहिं ।
आखिर प्रान तजे दुख सों न सम्हारि सको वा वियोग की पीरहिं ।।
पै 'हरिचन्द' महा कलकानि कहानी सुनाऊँ कहा बलवीरहिं ।
जानि महा गुनरूप की रासि न प्रान तज्यो चहै वाके सरीरहि ।।

संयोग श्रृङ्गार

किसी कवि की उक्ति है कि—

न बिना विप्रलंभेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायितेहि वस्त्रादौ भूयान्रागो विवर्धते ।।

संयोग श्रृङ्गार की रस-पुष्टि बिना वियोग के नहीं होती, जैसे रंग अच्छी प्रकार चढ़ने के लिए पहिले कपड़े पर कषाय ंग दिया जाता है। जब तक जीव वियोग में कष्ट नहीं उठा लेता तब तक उसे संयोग का आनंद नहीं मिलता। इसीलिए विप्रलंभ का

वर्णन कर लेने पर संयोग शृङ्गार पर भी थोड़ा सा कुछ लिखा जाता है।

संयोग शृङ्गार का आरम्भ पूर्वानुराग में होता है पर इसमें वियोग ही का अंश अधिक होता है। केवल दूर से देख लेना, गुण सुनना, अवसर निकाल कर क्षण मात्र एक दूसरे को देख मुस्कुराकर प्रेम प्रकट करना, चवाइनों (चुगुलखोरों) को फटकार आदि संयोग के अंतर्गत हैं। देखिए, एक दिन एकाएक पहिली बार दोनों की आँखें चार हो रही हैं—

जा दिन लाल बजावत वेनु अचानक आय कढ़े मम द्वारे।
हौं रही ठाढ़ी अटा अपने लखि कै हँसे मो तन नन्ददुलारे॥
लाजि कै भाजि गई 'हरिचन्द' हौं भौन के भीतर भीति के मारे।
ताही दिना तें चवाइन हूँ मिलि हाय चवाय कै चौचँद पारे॥

अब इन चवाइनों की प्रशंसा सुनिए—

ब्रज मैं अब कौन कला बसिए बिनु बात ही चौगुनों चाव करैं।
अपराध बिना 'हरिचन्द जू' हाय चवाइनैं घात कुदाव करैं॥
पौन मों गौन करे हौं लरी परैं हाय बड़ोई हियाव करैं।
जो सपने हूँ मिलें नन्दलाल तौ सौतुख मैं ये चबाव करैं॥

प्रेमाधिक्य में वे इन चवाइनों की ओर ध्यान भी नहीं देते।

ब्रजके सब नाँव धरैं मिलि ज्यौं ज्यौं बढ़ाई के त्यौं दोउ चाव करैं।
'हरिचन्द' हँसैं जितनी सब ही तितनो दृढ़ दोऊ निभाव करैं॥
सुनि कै चहुँधा चरचा रिसि सों परतच्छ ये प्रेम प्रभाव करैं।
इत दोऊ निसंक मिलैं बिहरैं उत चौगुनो लोग चबाव करैं॥

उनकी ढिठाई और बढ़ती है, वे इन चवाइनों से ललकार कर कहती हैं—

मिलि गाँव के नाँव धरौ सबही चहुँधा लखि चौगुनो चाव करौ।
सब भाँति हमैं बदनाम करौ कढ़ि कोटिन कोटि कुदाव करौ॥

'हरिचन्द जू' जीवन को फल पाय चुकीं अब लाख उपाव करो ।
हम सोवत हैं पिय अंक निसंक चवाइने आओ चवाव करो ॥

उद्दीपन रूप में वर्षा ऋतु जिस प्रकार वियोग में दुःखदायी होती है उसी प्रकार संयोग में वह रति को उद्दीपक हो उठती है, उसके बादलों के घिर जाने, ठंडी हवा चलने, दादुर की बोल, मयूर का नृत्य, हरे हरे खुले पत्तों का हिलना तथा कदम्ब पर कोयलों का कूकना संयोगियों के हृदय को गुदगुदाने लगता है।

कूकै लगीं कोइलैं कदम्बन पै बैठि फेरि धोए धोएपात हिल हिल सरसै लगे ।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि देखि कै संयोगी जन हिय हरसै लगे ॥
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी लखि 'हरिचन्द' फेर प्रान तरसै लगे ।
फेरि झूमि झूमि बरषा की ऋतु आई फेरि बादर दिगोरे झुकि झुकि बरसै लगे ॥

चन्द्रावली नाटिका में विप्रलम्भ शृङ्गार ही की प्रधानता है। चन्द्रावली जी की सखियों के परिश्रम से जब श्रीकृष्ण भगवान जोगिन का रूप धारण कर उनसे मिलने आये, उस समय विरह का उन्माद हर्ष के उन्माद में परिणत हो गया। वह पागल के समान श्रीकृष्ण के गले में लिपट कर कहती हैं—

पिय तोहि राखौंगी भुजन मैं बाँध ।
जान न दैहौं तोहि पियारे धरौंगी हिए यों बाँधि ॥
बाहर गर लगाइ राखौंगी अन्तर करौंगी समाधि ।
'हरीचन्द' छूटन नहिं पैहौ लाल चतुरई साधि ॥

वह घबड़ा कर कहती है, सोचती है कि अब पिय को ऐसी कौन जगह छिपालूँ कि वह कहीं भाग ही न जा सकें। आँखों की पुतली में रख लें या हृदय के भीतर रखें, यह उसे समझाई ही नहीं देता। तब वह प्रिय से प्रार्थना करती है कि तुम्हीं अब हमें छोड़ कर मत जाओ और जहाँ चाहो हमारे हृदय या आँखों में

निवास करो। यहाँ तक क्षणमात्र के लिए भी हमारी आँखों से दूर न हो। अंत में वह कहती है—

प्रिय तोहि कैसे बस करि राखौं ?
तुव दृग मैं तुव हिय मैं निज हियरो केहि बिधि नाखौं ॥
कहा करौं का जतन बिचारौं बिनती केहि बिधि भाखौं।
'हरीचन्द' प्यासी जनम की अधर सुधा किमि चाखौं ॥

इस सब हर्षोन्माद में किलकिंचित हाव पूर्णतया विकसित हो गया है। इसमें विहृत हाव भी मिला है क्योंकि आगे श्री चन्द्रावली जी कहती हैं कि 'जब कभी पाऊँगी तो यह पूछूँगी वह पूछूँगी पर आज सामने कुछ नहीं पूछा जाता।'

हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु जी का स्थान

जो कुछ आलोचना लिखी गई है, वह अनेक भावों से भावित तथा अनेक विषयों पर लिखित शताधिक रचनाओं के लिए पर्याप्त नहीं है और इसके लिए एक से अधिक विद्वानों को लेखनी उठानी पड़ेगी। इतने पर भी जो कुछ लिखा गया है उससे इनकी विशेषताओं का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो गया है। यह केवल कवि ही नहीं, गद्य के सुलेखक भी थे। यह राज-भक्त तथा देशभक्त दोनों ही थे। प्राचीन गौरव का पूर्ण आदर करते हुए यह नवीन विचारों के प्रति भी पूर्णतया उदार थे। इस प्राचीनता तथा नवीनता के सुन्दर सामंजस्य के साथ इनकी सबसे बड़ी विशेषता आधुनिक हिन्दी को जन्म देकर, उसे भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का सफल प्रयास है और इसी से वे आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता कहे गए हैं। इनके समय के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों तथा सुलेखकों ने इनको जिस सम्मान की दृष्टि से देखा था, वह अभूतपूर्व है और इसका उल्लेख क स्थलों पर हुआ भी है।

पं० श्रद्धराम जी हिंदी के सच्चे हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। इनकी सं० १९३८ में मृत्यु हुई थी। जिस दिन इनका देहान्त हुआ था उस दिन इनके मुँह से सहसा निकला कि 'भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परन्तु आज एक ही रह जायगा।' कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चन्द्र से था।

जिस प्रकार भारतेन्दु जी हिन्दी गद्य को सुव्यवस्थित चलता मधुर रूप देकर उनमें नाटक, इतिहास, पुरावृत्त, धर्म, आख्यान निबन्धादि अनेक काव्य विषयक ग्रन्थों की रचना की थी उसी प्रकार हिन्दी पद्य साहित्य की भाषा को परिमार्जित कर उसमें नवीन युग के अनुकूल कविता धारा को प्रवाहित कर हिन्दी साहित्य को अपना चिरऋणी कर रखा। इनकी प्रतिभा अपनी मातृभूमि तथा मातृभाषा की त्रुटियों के निरीक्षण में जितनी पटु थी उतनी ही उसके उत्थान के प्रयत्न में भी दत्तचित्त रही थी। भारत की चिन्ता में व्यग्र तथा हिन्दी के प्रेम के मतवाले भारतेन्दु जी ने अपना तन, मन, धन सब कुछ इन्हीं दो पर निछावर कर दिया। हिन्दी-साहित्य में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और अमर है।

'जब लौं ये जागृत रहैं जग में हरि औ चन्द।
तब लौं तुव कीरतिलता फूलहु श्री हरिचन्द॥